

ग्रन्थालय भाग ११

“जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गान्दर्पि गरीशसी ।”

विनोद-वैचित्र्य

पण्डित सोमेश्वरदत्त शुक्ल बी० ए० रचित

—०—

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, ઇલાહાબાદ

संવत् १९७२

प्रथम वर]

१९१५

[सूच्य]

परिष्ठत् सोमेश्वरदत्त शुक्र वी० ए० गच्छित पुस्तकों की सूची ।

१—Most Exalted Merits of Chastity.

२—जर्मनी का इतिहास—इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ।

३—फ्रांस का इतिहास " " "

४—गूढ़ विषयों पर सरल

विचार	अभ्युदय प्रेस	„
-------	---------------	---

५—सांसारिक सुख	" " "	„
----------------	-------	---

६—इँग्लैंड का इतिहास—इंडियन प्रेस	" " "	„
-----------------------------------	-------	---

७—आनन्दमय जीवन—अभ्युदय प्रेस	" " "	„
------------------------------	-------	---

८—जर्मन जासूस	" " "	„
---------------	-------	---

९—कैसर-रहस्य	" " "	„
--------------	-------	---

१०—तरल तरंग	इंडियन प्रेस	„
-------------	--------------	---

११—विनोद-वैचित्र्य	" " "	„
--------------------	-------	---

१२—नवीन सम्पर्क-शास्त्र—अभ्युदय प्रेस	" " "	„
---------------------------------------	-------	---

(शीघ्र छपेगा)

भूमिका ।

मने नवेगबर १९०५ में “जीवात्मा का विस्तार”
 ह नामक पहिला हिन्दी का लेख लिखा था । यथापि हम इससे पहिले १९०४ में और १९०५
 के पूर्वार्थ में संस्कृत और अंगरेजी भाषाओं
 में सब मिला कर ३ छोटी छोटी पुस्तकें
 लिख चुके थे, तथापि उक्त समय तक हमने हिन्दी
 में कुछ भी न लिखा था । अपनी हिन्दी पुस्तकों को छोड़
 कर आरम्भ से लेकर सन् १९१४ के अन्त तक हमने समय
 समय पर जितने लेख^१ लिखे हैं ग्राथः उन सभी को हमने इस
 “विनोदचैत्तिश्य” में पकड़ कर दिया है । हमें आशा है कि
 यह संग्रह उपयोगी होगा और हिन्दी-प्रेमी सलान इसे अपना-
 कर हमें अनुगृहीत करेंगे ।

विषय-विभाग को स्पष्ट करने के लिये हमने इस पुस्तक को
 चार भागों में बांट दिया है और इनमें से प्रत्येक में समस्त लेख
 अपने समय के क्रम से दिये गये हैं । नीचे ऊटनोटों में क्रमशः

* इनमें से जो निकला हमने हौँ गलौँड के विष्वास ग्रन्थकार जान रसिकन
 की पुस्तकों के आधार पर लिखे हैं वे इनमें अलग “नवीन सम्पत्तिशास्त्र”
 के नाम से कुछ नये लेखों के साथ शीघ्र छपेंगे ।

॥

उनके लिखे जाने के समय, उनके प्रकाशित होने के स्थान इत्यादि का व्योरा लिख दिया गया है, जिससे प्रत्येक लेख के विषय में आवश्यक बातें जानी जा सकती हैं। इस पुस्तक के पहिले भाग का लेख नं० २, दूसरे के नं० १ और २, तथा चौथे के नं० १, ४, ८ और ११ को छोड़ कर शेष सब “सरस्वती”, “मर्यादा”, “अभ्युदय” इत्यादि पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं।

पहिले भाग के दो अन्तिम लेख, दूसरे के दो प्रथम लेख, और चौथे के नं० १ और ४ नये तौर से इसी संग्रह के लिये नये नये भावी और विचारों के साथ लिखे गये हैं; इनमें हमारे लिखे हुए मूल लेखों की छाया नाम गान्धी ही को कहाँ कहाँ पर रह गयी है। इनके साथ ही हमने शेष सभी लेखों का पूर्णतया परिमार्जित करके नवीन रूप दिया है। इस प्रकार से हमने इस पुस्तक को सभी तरह से नयी करके इसे अपने वर्तमान समय के अनुकूल बनाया है। इसके सिवा भाग २ के लेख नं० ३ को छोड़ कर इस संग्रह के प्रायः सभी लेखों की रचना हमने स्वतन्त्रता के साथ की है।

सोमेश्वरदत्त शुक्ल ।

सीतापुर, अवध ।

सोमवार १३ मार्गशीर्ष शुक्र ० १५७१, }
ता० ३० नवेम्बर १९१४। }
—

विषय-सूची ।

प्रथम भाग ।

(तुलसीदास पर हमारे लेख)

		पृष्ठ
१—तुलसीदास की उत्पेक्षाएँ एवं रूपक	३—१६
२—तुलसीदास की नीति	१७—५०
३ तुलसीदास यैर लो-रत्न	५१—६८

द्वितीय भाग ।

(रामतीर्थ के निबन्धों पर हमारे लेख)

१—जीवान्मा का विस्तार	७१—७८
२—सफलता के रहस्य	७९—१०१
३—एक पवित्र छाया	१०२—१०४

तृतीय भाग ।

(देकिम बाबू के निबन्धों पर हमारे लेख)

१—सूक्ष्म विलप	१०७—११२
२—अमुकरण	११३—१२०

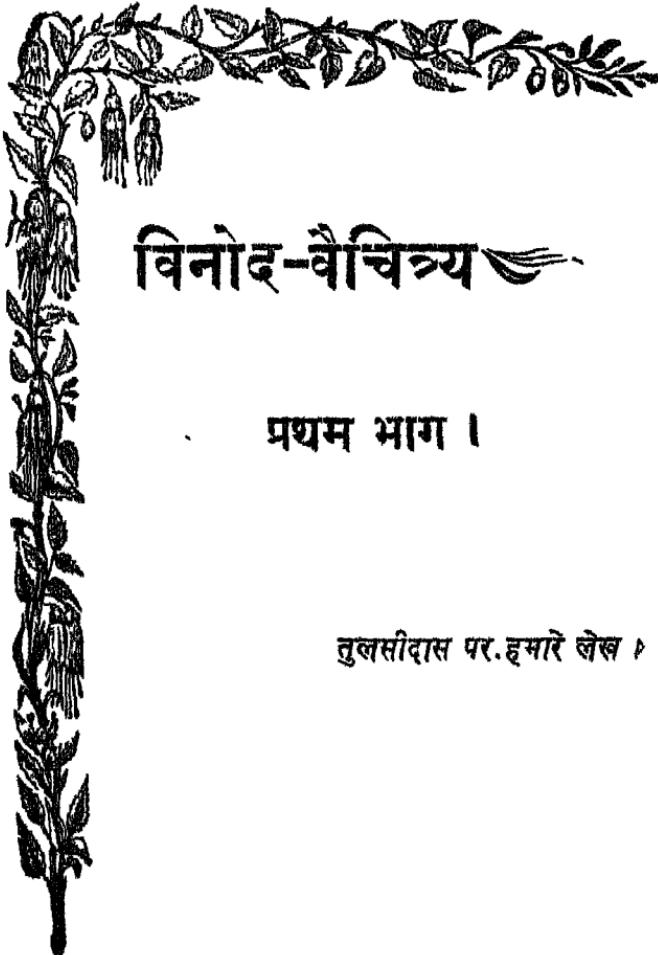
३—प्राचीन समय की भलक—

(१) द्वौपदी (१)	१२१—१२६
(२) द्वौपदी (२)	१२७—१३४

चतुर्थ भाग ।

(हमारे फुटकर लेख)

१—सफलता के लिये दो ज़खरी बातें	...	१३७—१५१
२—एक रहस्य	...	१५२—१५४
३—हास्यमयोक्तिमालिका	...	१५५—१५७
४—महाराजा सर प्रताप नारायणसिंह बहादुर के० सी० आई० ई०	...	१५८—१६५
५—जातीय शिक्षा	...	१६६—१७०
६—सीतापुर में लाजपति	...	१७१—१७६
७—हरिझार और हृषीकेश की यात्रा	...	१७७—१८४
८—झोकपुष्याङ्गुलि का आशय	...	१८५—१८७
९—पण्डित हरिदत्तजी शास्त्री	...	१८८—१९५
१०—मसूरी पहाड़	...	१९६—२२०
११—सदाचार-नीति और नवीन दार्शनिक हृषि	२२१—२३६	
१२—दक्षिणी अफ्रीका और वहाँ की शासन-प्रथा	२३७—२४४	



विनोद-वैचित्र्य

प्रथम भाग ।

तुलसीदास पर. हमारे लेख ।

१.—तुलसीदास की उत्थेज्ञाएँ एवं रूपक ।*

तुलसीदास की उत्थेज्ञाएँ विद्यों में तुलसीदास का नम्बर बहुत ऊँचा है। पांडित वाहे उनमें कम रहा हो, परन्तु कवित्व उनमें स्वाभाविक था। उनकी वाणी बड़ी ही रसाल है। जब तक हिन्दी भाषा का प्रचार रहेगा, तब तक रामायण के रूप में तुलसीदास की यशःपताका उड़ती रहेगी। उपमा-वैलक्षण्य, अर्थ-गौरव, प्राकृतिक वर्णन, पद-लालित्य आदि गुणों में हिन्दी काव्यों में रामायण ही विख्यात है। सुरसागर भी उत्तम काव्य है, परन्तु उसमें जो कुछ कहा गया है वह असम्बद्ध कथा के रूप में कहा गया है; उसका प्रत्येक पद अपना अर्थ अलग ही देता है। कथा-सन्दर्भ का यथाक्रम कह कर तुलसीदास ने यह प्रभागित किया है कि वह बहुत छड़े कथि थे और सब प्रकार की काव्य-रचना कर सकते थे।

* मई १९०८। “सरस्वती” भाग ४, संख्या १२, पृष्ठ ३५३—३५७। पूर्वनाम “तुलसीदास की अद्भुत उपमाएँ” स्वतन्त्र।

रामायण में एक प्रकार का अद्भुत माधुर्य और भाव है। कृतिम काव्य में पढ़नेवाले के हृदय पर प्रभाव पैदा करने की शक्ति बहुत कम होती है, परन्तु प्राकृतिक कविता में यह बात अधिकता से पायी जाती है। रामायण की कविता स्वाभाविक है। कोई आश्रय नहीं कि इसी कारण से यह सरस और प्रभाव-शाली प्रथ्य बड़े राजभवनों से लेकर होपड़ों तक में सादर पढ़ा जाता है।

प्रतिदिन सूर्योदय होता है और धूप निकलती है, तथा हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु सदा यथासमय आती हैं और चली जाती हैं, परन्तु इनमें कोई नयी बात हमको नहीं दिखायी देती है। हमारे लिये यह सब एक सामान्य घटना-क्रम है। इनके विषय में किसी प्रकार की असामान्यता हमारे चित्त में नहीं प्रकट होती है। स्वाभाविक कवि इन्हें एक विलक्षण हृषि से देखता है और इन्हें साधारण बातों से नये कौतूहलजनक उपदेश निकाल कर हमको आश्रय में डाल देता है। सामान्य बात या घटना को असामान्य हृषि से और असामान्य विषय को सामान्य हृषि से देख कर अपने भावों को एक मनोरञ्जकरूप में प्रकाशित करना प्राकृतिक कवित्य-शक्ति का एक मुख्य लक्षण है।

वैसे तो उत्तेक्षण, रूपक, उपमा इत्यादि के लिये कालिदास की बड़ी प्रशंसा है, परन्तु तुलसीदास भी इस विषय में अत्यन्त निपुण थे। इनके कोई कोई भाव-वैचित्र्य बड़े ही अनेक हैं। वर्षा ऋतु की अनेक घटनाओं से इस महाकवि ने उत्तमोत्तम

शिक्षाएँ संग्रह करके उन्हें हिन्दी-कविता में गुणित किया है। दार्शनिक सिद्धान्तों तक को मनोहर उपमाओं के भीतर रख कर इसने उन्हें सरल बना दिया है। हम तुलसीदास की उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक इत्यादि के कुछ नमूने देते हैं। इनको हमने साधारण रीति से छाँट लिया है। ढूँढ़ने से पौर भी विलक्षण विचित्रताओं का पता लगेगा।

देखिए रामायणकार रूपक के निरूपण में कैसे सिद्धहस्त हैं। आपके लिये रामायण-काव्यरूपी मानसरोवर तैयार किया गया है, जिसमें स्नान करके आप अपने अन्तर्मल को दूर कर सकते हैं। बाल, अयोध्या आदि काण्ड उस तड़ाग की सात सुन्दर सीढ़ियाँ हैं; उसमें सीताराममय सुस्वादु जल भरा हुआ है। उपमारूपी तरङ्गे उत्थापित होकर मन्द मन्द शब्द कर रही हैं। दोहा, चौपाई, छन्द और सोरठा भाँति भाँति के कमल हैं, जिन्हें सुकृतरूपी भ्रमर चारों ओर से घेरे हुए हैं। ज्ञान और विराग ये दो हँस उस सरोवर के दोनों तटों पर बैठे हैं। अप, तप आदि नाना भाँति के जलचर उसमें आनन्द कर रहे हैं। क्षमा और दया के उत्तम उत्तम वृक्ष उसके हृष्य को मनो-रम बना रहे हैं। रामचरित-प्रेमी उस विचित्र नड़ाग के रक्षक हैं और वे ही उसके अधिकारी हैं। विषयावर्तरूपी किलिष्व वहाँ नाम को भी नहीं है, इसलिये एक और काक के तुल्य स्वार्थी मनुष्यों को उसमें आनन्द नहीं आता है, तथा वे उससे दूर ही रहते हैं। तुलसीदास कहते हैं:—

“ संबुक भेक सेवार समाना ।
 इहाँ न विषय कथा रस नाना ॥
 तैहि कारन आवत हियहारे ।
 कामी काक बलाक विचारे ॥ ”

“ कामी काक बलाक विचारे । ” अहा ! कैसी सरस घोर
 फण-मधुर रचना है ! कैसी ललित पदावली है ! कैसा अच्छा
 अनुग्रास है ! मद, मोह, मत्सर और अभिमान रूपी निविड़ कानन
 उस सरोवर को धेरे हुए हैं । उसमें कुसंग, कुपन्थ आदि सर्प
 और व्याघ्र भ्रमण कर रहे हैं । सांसारिक बखेड़े पहाड़ हैं और
 उनसे निकल कर कुतर्करूपी नदी भयानक रूप से बह रही है,
 इसलिये श्रद्धारहित लोग उस पवित्र मानसरोवर के पास नहीं
 जा सकते हैं ।

रामचरित पाठ करने से आपको छहों ऋतुओं के हृष्यों के
 देखने का आनन्द मिलेगा । हिमालय-कन्या पार्वतीजी का शिवजी
 के साथ विवाह जाड़े के तुल्य है । श्रीरामचन्द्रजी की जन्म-कथा
 शिशिर ऋतु के समान सुखदायक है, उनके विवाह का धर्णीन वसन्त
 सा ग्राहादकर है । राम का वनवासगमन दुःखदायक ग्रीष्म है
 और निशाचरों के साथ घोर युद्ध वर्षा है । रही शरद, वह राम-
 राज्य के अलौकिक सुख के रूप में आपको देखने का मिलेगी ।

जनकपुर की फुलधारी में सखियों समेत सीताजी गौरीपूजन
 के लिये आयी हैं । इधर फूल तोड़ने के लिये श्रीरामचन्द्रजी

और लक्षण पहले ही से आ चुके हैं । सीता ने दोनों भाइयों को लताभवन से बाहर निकलते हुए देखा । उस समय प्रतीत हुआ कि—

“निकसे जनु जुग विमल विधु
जलद पटल विलगाय ॥”

थहाँ पर तुलसीदास से हमारा एक उल्हना है । गोसाई जी ! आपके प्यारे राम तो “श्यामसरोज दामसम सुन्दर” हैं, फिर उनके लिये सच्छ चमकते हुए “विमल विधु” की उत्प्रेक्षा कैसी ?

अब स्वयंवर में आइए । “उदय गिरि मंच” पर “रघुवर बाल पतङ्ग” के निकलते ही तारा सहशा राजाओं की चमक जाती रही । सज्जन तथा भक्तजनों के हृदय-कमल, जो अब तक बन्द थे, खिल उठे । कोक के तुल्य देवता और मुनियों के सुख की सीमा न रही और कुमुद के समान अभिमानी राजाओं का सिर नीचा हो गया । इसी समय सीताजी यश-मंडप में लायी गयी । किस कवि मैं यह शक्ति है कि वह राजकुमारी के आलेकिक सोन्दर्य का वर्णन कर सके, इसलिये तुलसीदास कहते हैं—

“जी छवि-सुधा-पद्यानिधि होई ।
परम-रूपमय कच्छप सोई ॥
सोभा रजु मन्दू सिंगारू ।
भथइ पानिर्पकज निज मारू ॥

“धूपधूम नभ मेचक भयऊ ।
 सावन धन धमंड जनु छयऊ ॥
 सुरतंड-सुमन-माल सुर बरषहिँ ।
 मनहुँ बलाक अबलि मन करषहिँ ॥

...
 प्रगटहिँ दुरहिँ अठन पर भामिनि ।
 चारु चपल जनु दमकहिँ दामिनि ॥
 दुंदुभिघुनि धनगरजानि धोरा ।
 जाचक चातक दादुर मेरा ॥
 सुर सुगन्ध सुचि बरषहिँ बारी ।”

विधि की गति बड़ो कुटिल है—वह सुखासृत में दुःखकाल-कूट मिलाया ही करती है। अयोध्या में आनन्द ही आनन्द था, परन्तु कैकेयी ने उसमें विष धोलने का महापाप अपने सिर लिया। कोपभवन में शोकार्त दशरथ पड़े हुए थे। इस दुःख की दशा में उन्हें दुर्वाक्य कहते हुए कैकेयी अपना प्रयोजन बनाने को उठी। उस समय, तुलसीदास कहते हैं, ऐसा प्रतीत होता था कि मानों कोश की नदी पाप-पहाड़ से निकल कर जहने लगी है। कैकेयी का दुराग्रह उसकी धारा है और मन्थरा के वचन उसके भँवर हैं। वह तरंगिनी विजा किसी विदेश के—

“ढाहत भूपरप तरमूला ।
 चली विपतिष्वारिधि अनुकूला ॥”

अहा ! कैसा अच्छा रूपक और कैसी अच्छी कविता है !

कैकेयी के हठ का यह फल हुआ कि श्रीरामचन्द्रजी, लक्ष्मण
और सीता को बन जाना पड़ा । उस समय भ्रातृ-युगल के
बीच में सीताजी ऐसी शोभा दे रही थीं :—

(१) “श्रीराजीव विच माया जैसी ।”

(२) “जनु मधु मदन मध्य रति लसाई ।”

(३) “जनु बुध विधु विच रोहिणि सोही ।”

एक ही बात की तीन उत्प्रेक्षाएँ करके तुलसीदास ने अपने
कवित्य की पराकाष्ठा दिखायी है ।

श्रीरामचन्द्रजी चित्रकूट में जा जासे । द्वोकाकुल भरत ने
सब समाज साथ लेकर उन्हें वापस लाने के लिये अयोध्या से
प्रस्थान किया । चलने चलने भरत के कोयल पैरों में छाले पड़
गये, उनके विषय में गोसाई^१ जी कहते हैं :—

“भलका भलकत पौयन कैसे ।

एंकज कोस घोसकन जैसे ॥”

धन्य गोसाई^१ जी ! क्या ही अतीखी उत्प्रेक्षा की है ! चिलकुल
ही अनुचित ! “कोस” एवं “घोस” शब्दों की मैत्री तो
देखिए ।

महाकवि वात्मीकि ने सून्दरकांड में सैकड़ों उपमाचोर्चों को
एकत्र कर दिया है । तुलसीदास ने भी यही बात की है । यहाँ
इन्होंने अपनी हृष्टान्त-बर्णन-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है ।
बरसात की एक छाठी से भी छाठी घटना का इन्होंने हृष्टान्त

दिया है। उनमें यह विशेषता है कि उन सभी से कुछ न कुछ उपदेश मिलता है। उनमें से कुछ दृष्टान्त ऐसे अद्भुत हैं कि उनको देख कर दङ्क रह जाना पड़ता है। उदाहरण लीजिएः—

“दामिनि दमकि रही धन माहीँ ।

खल की प्रीति जथा थिर नाहीँ ॥

बरषहिँ जलद भूमि नियराये ।

जथा नवहिँ बुध विद्या पाये ॥

बुद्ध अद्यात सहहिँ गिरि कैसे ।

खल के बचन सन्त सह जैसे ॥

छुट्र नदी भरि चली तोराई ।

जस धोरेहु धन खल इतराई ॥

...

अर्क जवास पात बिन भयऊ ।

जिमि सुराज खल उद्यम गयऊ ॥

...

महा वृष्टि चलि फूटि कियारी ।

जिमि सुतन्त्र भये विगरहिँ नारी ॥

...

असर बरषइ तून नहिँ जामा ।

जिमि हरि-जन-हिय उपज न कामा ॥

...

चक्रवाक मन दुख निसि ऐखी ।
जिमि दुरजन पर सम्पति देखी ॥”

....

लंका में सीता का पता लगा कर हनूमानजी श्रीरामचन्द्रजी के पास आपस आये हैं । आकुलता के साथ श्रीरामचन्द्रजी उनसे पूछते हैं—“हे प्रिय, कहो सीताजी किस प्रकार से अपना समय काटती हैं ? वह अपने प्राणों की रक्षा कैसे करती हैं ?” इसके उत्तर में जो देहा कपि-शार्दूल के मुँह से तुलसीदास ने कहलाया है उसके रूपक में कितना गृह भाव भरा हुआ है यह बात काथ्य-रसेकों से छिपी नहीं है । हनूमानजी कहते हैं—

“नाम पाहरु दिवस निसि
ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज-पद-जन्मिका
जाहिँ प्रान केहि बाट ॥”

सीता ने इस महादुःख के समय में भी प्राण क्यों नहीं खागे इस गृह पश्च की भीमांसा इस दोहे में बड़ी चतुरता से की गयी है । सत्कवियों के सिवा चौर कौन ऐसी कविता कर सकता है ?

....

प्रचंड लंकाकांड उपस्थित है । राक्षसों के रक्त से लंका की पृथ्वी लाल होगयी है । मेघनाद और कुम्भकर्ण सहृदा और चौर-गति को प्राप्त हो चुके हैं । रथ पर सवार अहंकारी रावण

रथरहित श्रीरामचन्द्रजी से लड़ने को तैयार है । इनको विना सवारी के देखते ही विभीषण ने भय खाकर रघुकुलचूड़ामणि से निवेदन किया:—

“महाराजा, विना रथ के अपनी जीन कैसे हो सकेगी ?”
यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी ने कहा:—

“जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना ।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका ।

सत्य सील हृढ खजा पताका ॥

बल बिबेक दम परहित धोरं ।

छमा दया समता रजु जारे ॥

ईस भजन सारथी सुजाना ।

विरति चर्म संतोष कुपाना ॥

सखा धरममय अस रथ आके ।

जीतन कहँ न कलहुँ रिपु ताके ॥”

भगवान् के ये वाक्य सुन कर विभीषण की चिन्ता दूर होगयी ।

लंकाविजय के बाद विशाल सेना के साथ श्रीरामचन्द्रजी और जानकी के अयोध्या लैटने का समय आया । अयोध्या में जहाँ देखिए वहाँ आनन्द ही आनन्द छाया है । विमान पर श्रीरामचन्द्रजी चन्द्रमा के समान दिखायी देते हैं और उनकी

पुरी ग्रयोन्या जन-समूह-रूपी तरङ्गों से समुद्र के समान आन्दो-
लित हो रही है । इस समय का एक अनूठा रूपक सुनिष्ठः—

“नारि कुमुदिनी अवध सर
रघुपति-बिरह दिनेस ।
अस्त भये लिकसित भई
निरदि राम राकेस ॥”

यह बड़ा ही सुन्दर, बड़ा ही हृदयहारी थीर बड़ा ही सरस
रूपक है ।

उत्तरकांड में तुलसीदास का ज्ञान-दीप-निरूपण अपनी स्फटि-
कोपम प्रभा की विचित्र छटा दिखा रहा है । एक बड़े ही गूँड
विषय को रूपक रचना द्वारा इस कवि ने बहुत सरल कर
दिया है । आइए आप थीर हम भी इस ज्ञानदीप को जलाने
का यज्ञ करें । इसके लिये धी की ज़रूरत होगी । धी तैयार
करने के लिये सात्त्विकी श्रद्धा-रूपी गाय लाइए, उसके पालन
थीर पोषण के लिये तप, व्रत, संयम, नियम आदि धास की
आवश्यकता होगी । इस गाय के उक्त धास के जा चुकने पर
ग्रेम-रूपी बछड़े को थोड़ी देर तक दूध पीने दीजिए थीर उसके
कुछ समय बाद मन-रूपी अहीर से कहिए कि वह उसे निवृत्ति
की रस्सी से बांध कर विश्वासरूपी उत्तम बर्तन में धर्मरूपी दूध
दुह ले । उस दूध को निष्कामता की आग पर गर्म करके,
सन्तोष थीर क्षमा की हवा से ढंडा करने के बाद, धैर्य
की सहायता से जमाइए । प्रसङ्गता-रूपी हाथों से, विचार की

मथानी लेकर तथा शम और दम के आधार पर सत्यरुपी रसनी
द्वारा उसे मथ कर, विरागरुपी मक्खन निकालिए। इसके अनन्तर

“जोग अग्नि करि प्रगट तब

कर्म सुभासुभ लाइ ।

बुद्धि सिरावद ज्ञान वृत

ममता मल जरि जाइ ॥

तब विज्ञाननिरुपिनी

बुद्धि विसद वृत पाइ ।

चित्त दिया भरि धरद हृष्ट

समता दियटि बनाइ ॥”

इसके बाद जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं
के कपास को साफ़ करके तथा तुरीयरुपी रह निकाल कर उसकी
बहुती इस दीप में डालिए और अपने तेज से इस धीपक को
जलाइए, तब अहंकार, भ्रम, मोह आदि कीड़े अपने आप इसमें गिर
कर जल मरेंगे। इसके सिवा और भी फल प्राप्त होंगे, जैसे:—

“आत्म-अनुभव-सुख सुप्रकाशा ।

तब भवमूल भेद भ्रम नासा ॥

प्रबल अविद्या कर परिवारा ।

.मोह आदि तम मिट्ठ अपारा ॥”

इसमें सन्देह नहीं कि इस ज्ञानदीप का जलानेवाला
परमानन्द को प्राप्त कर सकता है।

२—तुलसीदास की नीति ।*



दे पन से लेकर बुढ़ापे तक हमें अपने जीवन में
प्रतिदिन नयी नयी बातों से सामना करना
पहला है—हमें नये नये काम करने, नये नये
सम्बन्ध खोलने, और नये नये वैचित्र्य देखने
पड़ते हैं। इन समस्याओं को हाथ में लेकर^१
इनसे अपना और दूसरों का भी कल्याण करना अथवा इनके
बाहर से दबकर हताश हो जाना हमारी प्रतिभा, बुद्धि, अध्यव-
साग्र और अनुभव की सफली परीक्षा है।

साधारण घटनाओं और सम्बन्धों में प्रायः कोई ऐसी नयी
बात नहीं होती है जो हमारी चतुरता को विचलित कर सके,
परन्तु जब नयी बातें नये रूप में यकायक हमारे सामने आती हैं,
जैसे समय उनको ठीक तैर से संभालना, अपना उत्साह
शिर रखना और हासिकर घटनाओं को अपने कौशल से लाभ-
कारी बना लेना हमारी विद्या और धोम्यता की कसौटी है।

* आष्टोयर १६१४। असुदित। स्वतन्त्र।

ऐसी दशा में यदि हमारी विजय हुई, तो हमारा पराक्रम सदा के लिये दूना होता है, और यदि पराजय हुई, तो हिम्मत हारने का डर होने लगता है। इस समय धैर्य को छाड़ देना कायरता और अपने उत्साह को ठीक बैसा ही बनाये रखना चाहता है।

हमारे लिये यह सौभाग्य की बात है कि चागक्य, शुक, विदुर, भर्तृहरि इत्यादि विद्वान् और अनुभव-शील नीतिकार हमारे जीवन के मार्ग को बहुत कुछ सरल बना गये हैं। ये अपने नैतिक उपदेशों के रूप में हमारे लिये जीवन की अनेक नयी समस्याओं को सुलझाने के लिये उपाय हजारों वर्ष पहले से बतला चुके हैं। इनमें से अधिकांश उपदेश आज भी सबों शाताङ्गी में भी जैसे के तैसे हमारे लिये उपयोगी हैं, और बहुत से कठिन समयों पर हमें साहसी, उत्साही और सुखी बना सकते हैं।

उपराक विद्वानों के मर्म को भली भाँति समझ कर तुलसी-दास ने अपने सरल और सरल काव्य रामायण में चुने हुए उपदेशों को आकाश में चमकते हुए तारों के समान बख्तर दिया है और हम सभी के लिये पक बड़े मनोहर और सुखोद रूप में जीवन-यात्रा को सुगम और सुखपूर्ण बनाने के उपाय कहे हैं। प्रायः सब ही हिन्दू जाननेवाले इस रामायण को बड़े 'चाव' के साथ पढ़ते और इससे उपयोगी शिक्षा प्राप्त करते हैं।

तुलसीदास ने राजनीति, समाजनीति और साधारणनीति पर बहुत कुछ लिखा है; इनको उदाहरण देकर समझाने के लिये रामायण की कथा से बढ़ कर और क्या हो सकता है ? उत्तम उदाहरणों के साथ बांध्या नीतिक उपदेशों का विचित्र संघट इस रामायण ही में है । यदि ऐसा रसाल और मनोरम काव्य पाकर भी उसके नीति-सम्बन्धी वाक्यों की शिक्षा से हम अपने जीवन को तेजस्वी और सफल न बना सकें, वरन् उसके स्थान में छोटी छोटी जीवन-समस्याओं में भी चूकना प्रारम्भ करें, तो इमारे लिये इससे ज्यादा उग्रहासजनक बात और कोई नहीं हो सकती है । आइए, पहले पहल देखें कि इस हिन्दी नीतिकार ने राजनीति के विषय में हमें क्या क्या खिलाया है ।

(१) राजनीति ।

कोई भी ऐसी पदवी नहीं है जिसमें उत्तरदायित्व न हो, जो दर्जा जितना ज्यादा बड़ा है उसके साथ उतनी ही बड़ी ज़िम्मेदारी है । जो मनुष्य अपने उत्तरदायित्व को पूरे तौर से न समझ कर तथा उसके अनुकूल अपने आचरण और कामों को न ठीक रखकर मनमाने तौर से अपना जीवन बिताते हैं वे अपनी निन्दा और अपने पद की हँसी करते हैं । अपने पद के उत्तरदायित्व को समझ कर खलना अपने जीवन को सफल और पद को शोभित करना है, इसके बिच्छ ऊँचा दर्जा पाकर

मदान्ध होजाना अपने जीवन को कलंकित और पद को अप-
मानित करना है । योग्य मनुष्य छोटे पद की भी अपनी
प्रतिभा से ऊँचा बना देता है, परन्तु अयोग्य मनुष्य ऊँचे दर्जे
को भी नीच बना देता है । आप समझ सकते हैं कि राजा का पद
कितना बड़ा है और उसको पाकर मनुष्य को कितने ज्यादा
स्वत्व और कितने अधिकार मिलते हैं, परन्तु इसके साथ ही
उसके ऊपर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी रहती है । यदि राजा यह
समझता है कि मैं अपनी आत्मा, परमात्मा और सारी प्रजा
के सामने इस राज्य के उचित शासन और न्याय के लिये
उत्तरदाता हूँ, तो वह सचमुच और लोगों का कल्याण कर
सकेगा। और स्वयमेव आनन्द भेग सकेगा, वैसे राजा होना
भला नहीं, उसके देखते हुए एक सामान्य मनुष्य होना भला
है । देखिए राजा के कुछ आवश्यक गुणों के विषय में महाराजा
श्रीरामचन्द्रजी क्या कह रहे हैं:—

“रघुर्बंसिन्ह कर सहज सुभाऊ ।
मन कुपन्थ पर धरै न काऊ ॥
मोहि अतिसय प्रतीति जिय केरी ।
जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी ॥
जिन्हके लहाहिं न रिपु रन धीठी ।
नहिं लावहिं परतिय मन दीठी ।
मंगन लहाहिं न जिन्हके नाहीं ।
ते नरन्धर धारे जग माहीं ॥”

यहाँ पर नीति के आश्रय, कामदेव पर विजय, युद्ध में वीरता और दान में उदारता की शिक्षा तुलसीदास ने थोड़े ही शब्दों में दे दी है। जिन राजाओं में ये गुण नहीं हैं वे अपने ऊँचे पद की विडम्बना करा रहे हैं और उनके शासन की नाव जभी झूँब जाय तभी कोई आश्रय नहीं है।

जब राम, लक्ष्मण और सीता को केवट की नाव पर सघार कराके सुमन्त अयोध्या को लौटे और सब समाचार मृतप्राय राजा दशरथ से कहने लगे, उस समय उन्होंने यह निवेदन किया कि राम ने और बातें कहते हुए सुने यह भी आशा दी है:—

“कहव सँदेसु भरत के आये ।
नीति न तजब राजपद पाये ॥
पालहु प्रजहि कर्म-मन-बानी ।
सेवहु मातु सकल सम जानी ॥
और निबाहव भायप भाई ।
करि पितु मातु सुजन सेवकाई ॥”

यह राजा के दूसरे कर्तव्यों को बतलाता है। उसे अपने माता, पिता, और भाई के साथ उचित वर्ताव करना चाहिए। प्रत्येक राजा सब से पहले मनुष्य है और किर राजा, इस लिये उसको अपने मातुजिक धर्मों का पालन उसी उत्तमता के साथ करना चाहिए जैसे कि अपने राजकीय धर्मों का। राजा होकर अपने प्रियजनों की उपेक्षा करना नीति के विवर है।

उसका मुख्य कर्तव्य “पालहु प्रजाहि कर्म मन बानी” इस छोटे से वाक्य में कूट कर भर दिया गया है। ध्यान रग्विए कि मनसा, वाचा और कर्मणा सभी प्रकार से सच्चते हृदय के साथ प्रजा का पालन करना प्रत्येक राजा का पवित्र धर्म है। यदि वह इस कर्तव्य से गिरता है, तो वह निस्सन्देह पाप का भागी होगा। उसे सोते और जागते सदा प्रजा का हित करना चाहिए। राजा होकर यह कभी न भूलना चाहिएः—

“राजुनीति विनु धन विनु धर्मा ।
हरिहि समर्पे विनु सत कर्मा ॥
विद्या विनु विवेक उपजाये ।
स्वम फल पढ़े किये अरु पाये ॥
खंग ते जती कुमंत्र ते राजा ।
मान ते ज्ञान पान ते लाजा ॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी ।
नासहिँ बेगि नीति अस सुनी ॥”

इसमें सन्देह नहीं कि नीति के बिना राज्य और कुमंत्र से राजा शीघ्र नाश को प्राप्त होते हैं।

राजा की सहायता के लिये अनुभव-शील मन्त्रियों का होना अत्यावश्यक है, परन्तु यदि ये निर्भय नहीं हैं, तो इनका न होना ही अच्छा, कारण कि इस दशा में ये प्रायः लाभ के बदले हानि ही करते हैं। तुलसीदास कहते हैं:—

“सचिव बैद्य युद्ध तीनि जो
प्रिय धालहाँ भय आस ।
राज धर्म तन तीनि कर
होहि बेग ही नास ॥”

यदि डर कर राजा की हानि करनेवाले विचारों और कामों में भी ये उसके साथ हाँ में हाँ मिलाना आरम्भ कर दें और जिस बात से उसका मक्का कल्याण होता हो उसका प्रकाश न करें, तो विजय की भी सहायता पाकर उसका राज्य नहीं ठहर सकता है।

राजा को अपनी प्रजा और अपने दूसरे समीपी राजाओं के साथ सदा मित्रता रखनी चाहिए। जब प्रजापालन उसका प्रधान उद्देश्य होगा, तब उसके राज्य के सभी मनुष्य उसकी वत्सलता से आनन्दित होकर उसका आदर करेंगे और उससे विरोध करने का विनार अपने चिन्त में कभी न लावेंगे। इसी प्रकार से अपने राज्य की शान्ति और सुख के लिये पड़ोस के राजाओं से भी मैत्री और सौहार्द रखना बहुत ज़रूरी है, परन्तु यदि किसी समय मेल न खिर रह सके और युद्ध की तैयारी करनी पड़े, तो यह कभी न भूलना चाहिए:—

“नाथ वेर कीजिय ताही सों ।
बुधिबल जीति सकिय जाही सों ॥”

आँखें बन्द करके शाशुता पैदा कर लेना और लड़ाई छेष देना निरी बेसमझी का काम है। अर्पणा और दैदी का बल

और रणकौशल दोनों ही को तौल कर लड़ना चाहिए । एक-बार लड़ाई छेड़ देने पर फिर राजा को किसी समय भी, बिना जीते हुए, अपना पैर पीछे न हटाना चाहिए, क्योंकि—

“सनमुख मरन बीर की सोभा ।”

अहा ! क्या ही धीरतापूर्ण और उत्सेजक वाक्य है ? प्रारम्भ ही से हमारे यहाँ के बीर सैनिकों का यह नियम रहा है कि लड़ाई में प्राप्त तज देना अच्छा है, परन्तु पीठ दिखा कर भागना नहीं अच्छा ।

बीर और बलवान् मनुष्य अपने मुँह से अपनी प्रहांसा कभी नहीं करते हैं, क्योंकि उनको यह शोभा नहीं देता है । शूर-शिरोमणि अनुभवशील परशुरामजी को इस बात का स्मरण नहीं रहा था, तभी युवक लक्ष्मण की यह डाट उन्हें सुननी पड़ी थीः—

“सूर समर करनी करहि
कहि न जनावहि आपु ।
बिद्यमान रन पाय रिपु
काथर करहि प्रलापु ॥”

इसमें सन्देह नहीं कि जिस पुरुष में वात्सविक धीरता वर्तमान है वह बिल्ले ही अपने मुँह से अपनी बड़ाई करेगा । समय पाकर उसका पराक्रम सहज ही में पूर्णतया प्रकाशित हो जायगा, इसलिये उसे क्या पड़ी है जो यह अपने बल का प्रलाप करता फिरे ।

कोई राजा कितना ही पराक्रमी हो और उसके पास कितनी ही बड़ी सेना हो, तथापि उसको छोटे शत्रु से भी सदा सचेत रहना चाहिए । तुलसीदास कहते हैं:—

“रिपु तेजसी अकेल अति
लघु करि गनिय न ताहु ।
अजहुँ देत दुख रवि ससिहिँ
सिर अवसेषित राहु ॥”

जब तक पूरे तैर से बैरी का नाश न हो जाय, तब तक राजा का असावधान रहना अनुचित है, एक न एक प्रबल उपाय करके उसे अवश्य चूण कर देना चाहिए । शत्रु के पूरे तैर से नष्ट हो जाने ही में सदा कुशल है, क्योंकि ईश्वर न करे देसा हो, यदि कहीं बैरी ने प्रबल होकर अपने कपर अधिकार कर लिया, तो फिर यही चित्त में आता है:—

“अरिबस दैव जियावत जाही ।

मरनु नोक तेहि जीयन चाही ॥”

यह सच-मुच अक्षर अक्षर ठीक है कि शत्रु के अधीन होकर रहने से मर जाना सदा अच्छा है ।

अपने हृदय को छोटा बनाना तुच्छ मनुष्यों का स्वभाव है । राजा को उदार-चित्त होना चाहिए, इसी में उसकी शूरता और दोभा है । जब कोई मनुष्य अपनी रक्षा के लिये उसके पैरों पर चाकर गिरे, तब राजा को चाहिए कि वह उसके विषय में ज़रूरी बातों का पता लगा कर उसे आश्रय दे, और यह समरण रखें:—

“सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पापर पापमय तिनहिं विलोकति हानि ॥”

श्रीरामचन्द्रजी ने अपने वैरी रावण के भाई बिरोधगा को
इसी कारण से अपनाया था । इस नीति का पाठन बहुत साध-
धानता के साथ करना चाहिए, क्योंकि थोड़ा भी चूक जाने
से यही मनुष्य भेदिया बन कर अपना सर्वनाश कर
सकता है ।

(२) समाजनीति ।

अच्छी संगति से मनुष्य का सदा भला होता है । युरी
संगति उसके आचरण को विगड़ कर उसे सत्यानाश कर
देती है । इस वित्र के अपकर्ष से समाज की असाधारण हानि
होती है, इसलिये तुलसीदास ने सत्संगति की बहुत बड़ी
प्रशंसा की है; उनकी रामायण आदि से लेकर अस्त तक हस्तकी
महिमा से भरी हुई है । देखिए इस विषय पर हस्त कवि की क्या
समाप्ति है:—

(१) “बिनु सत्संग विवेक न होई ।
रामकृष्ण बिनु सुलभ न सोई ॥
सत्संगति मुद्मंगल-मूला ।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ सुधरहिं सत्संगति पाई ।
पारस एरसि कुधातु सोहाई ॥”

(२) “हानि कुसंग सुसंगति लाहू ।

.....
गगन चढ़ाइ रज पवन प्रसंगा ।
कीचहि मिलाइ नीच जल संगा ॥”

(३) “केहि न सूलंग बढ़पन पावा ।”

(४) “तात स्वर्ग अपवर्ग सुख
धरिय तुला एक अंग ।

तूल न ताहि सकल मिलि
जो सुख लब सतसंग ॥”

(५) “सतसंगति दुलभ संसारा ।”

इसके सिवा यह कदापि न भूलना चाहिए—

“को न कुसंगति पाह न साई ।
रहाइ न नीच मरे गहआई ॥”

इसमें सन्देह नहीं कि कुसंगति में पड़ कर बड़े सच्चिदित्र
मनुष्य भी बिगड़ गये हैं । इस दशा में उनकी विद्या और योग्यता
कुछ भी सहायता नहीं कर पाती है । मनुष्य कुसंगति में पड़ा
नहीं कि उसका सर्वनाश हुआ । जब तक वह दुष्ट मनुष्यों से
कोसों दूर हैं, तभी तक वह अपने जीवन को परिव्र, उदार,
और सफल बना सकता है ।

जिन दुष्ट लोगों से हमें एकदम दूर रहना चाहिए वे ये हैं—

‘ (१)

“जो अनु काज दाहिनेहु आये ॥

परहित हानि लाभ जिन केरे ।
 उजरे हरष विषाद बसेरे ॥
 हरिहर जस राकेस राहु से ।
 पर अकाज भट सहस्राहु से ॥
 जे परदोष लखहिँ सह साखी ।
 परहित धृत जिनके मन माखी ॥
 तेज कुसानु रोष महिषेसा ।
 अघ अवगुन धन धनी धनैसा ॥
 उदयकेतु सम हित सब ही के ।
 कुंभकरन सम सोबत नीके ॥
 पर अकाज लगि तनु परिहरहों ।
 जिमि हिम उपल कुषीदल गरहों ॥”

(२) “खलन हृदय अति ताप विसेखी ।
 जरहिँ सदा पर सम्पति देखी ॥
 जहँ कहुँ लिन्दा सुनहिँ पराई ।
 हर्षहिँ मनहुँ परी लिधि पाई ॥
 काम क्रोध मद लोभ परायन ।
 निर्दय कपटी कुटिल मलायन ॥
 वैर अकारन सब काहुँ सोई ।
 जो कर हित अनहित ताहुँ सोई ॥
 झूठहि लेना झूठहि देना ।
 झूठहि भोजन झूठ चवेना ॥

बोलहिँ मधुर बचन जिमि मोरा ।

खाहिँ महा अहि हृदय कठोरा ॥

पर द्रोही परदार रत पर धन पर अपनाद ।

ते नर पामर पापमय देह धरे मनुजाद ॥

लोभइ शोहन लोभइ छासन ।

सिसनोदर पर जमपुर त्रासन ॥

काहु की जो सुनहिँ बड़ाई ।

स्वास लेहिँ जनु जूँड़ी आई ॥

जब काहु की देखहिँ बिपती ।

सुखी हाहिँ मानहुँ जग नृपती ॥

स्वारथ रत परिवार बिरोधी ॥

लम्पट काम लोभ अति क्रोधी ।

मानु पिता गुरु बिप्र न मानहिँ ॥

आपु गये अरु धालहिँ आनहिँ ।

.....

अबगुन सिंधु मन्द मति कामी ।

वेद बिदूपक पर धन स्वामी ॥”

जिन मनुष्यों में उपरोक्त अबगुण हीं उन सबसे हमें कुछ भी सरोकार न रखना चाहिए । इनसे बचे रहने ही के लिये इनके देखों को तुलसीदास ने जान-बूझ कर विस्तार के साथ कहा है । यदि हम इपर लिखे हुए विवरण को भी एहु कर अपने जीवन को लुरे मनुष्यों के प्रभाव से न बचा सकें, तो यह-

हमारी निरी असावधानता है, जो हमारे चरित्र-दूषण, दुर्भाग्य और सर्वनाश का प्रबल कारण होगी । कुसंगति के बुरे फलों और दुष्ट मनुष्यों के अवश्यों से डर कर ही तुलसीदास हमें यह उपदेश देते हैं:—

“जेहिते^१ नीच बखाई पावा ।
सो प्रथमहि^२ हठि ताहि नसावा ॥
धूम अनल सम्मव सुनु भाई ।
तेहि बुझाव घन पदवी पाई ॥
रज मग परी निरादर रहई ।
सब कर पग प्रहार निन सहई ॥
मरुत उडाइ प्रथम तेहि भरई ।
नृप किरीट पुनि नयनह परई ॥

बुध नहि^३ करहि^४ अधम करसंगा ॥
कबि केविद गावहि^५ अस नीती ।
खल सन कलह न भल नहि^६ प्रीती ॥
उदासीन नित रहिय गौसाई^७ ।
खल परिहरिय स्वान की नाई^८ ॥”

वास्तव में हमारा कल्याण तभी होगा, जब हम कुत्ते की नरह बुरे मनुष्यों को अपने पास से एक दम अलग रखेंगे ।

गौसाई^९जी, आप अनुभवी पुरुष थे, आपने ठीक ही कहा है:—

“खल सन कलह न भल नहि^{१०} प्रीती !”

और दुष्टों से उदासीन रहने की बहुत उचित सम्मति दी है। हमारे लिये यह सभी प्रकार से ज़रूरी है कि हम सज्जनों से अवश्यमेव प्रीति करें, इनके साथ सौहार्द बढ़ावें और इन्हें अपना सच्चा हितैषी बनावें; इनसे अलग रह कर हमारा जीवन निबाहना कठिन हो जायगा और हमें अन्धों के समान इधर उधर अपना मार्ग टटोलना पड़ेगा। हम भी यह कहते हैं कि बुरे मनुष्यों के साथ अनावश्यक भगड़ा न बढ़ाया जाय, परन्तु हमें यह सदा सरण रखना चाहिए कि उनके दुराचार और दोषों की गन्धि तक हमारे पास न आने पावे।

दुष्ट मनुष्यों से बच कर चलने का उपदेश देकर ही तुलसी-दास को सन्तोष नहीं हुआ है। उन्होंने हमारे रास्ते को सीधा बनाने के लिये सज्जनों का भी निरूपण कर दिया है, जिससे हम देखते ही उन्हें पहिचान जावें और उनकी प्रशंसनीय प्रवृत्ति, विवेक-पूर्ण विचार और आदर्दी आचरण का उचित स्वीकार करके अपने जीवन को उत्तम बना सकें। अच्छी संगति की प्रशंसा को पढ़ कर भी यदि किसी के चित्त में यह सन्देह रह जावे कि हम क्यों अच्छे पुरुषों का साथ करें, तो उसे यह कभी न भूलना चाहिए:—

“भलो भलाइहि पै लहइ लहइ निलाई नीच ।

सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिय भीच ॥”

और भी:—

“बड़े सनेह लघुन पर करहीं ।

गिरि निज सिरन सदा तून धरहीं ॥

अलधि अगाध मैलि बह फेनू ।

सन्तत धरनि धरत सिर रेनू ॥”

बच्छे मनुष्यों का अच्छा ही प्रभाव सदा हमारे ऊपर पड़ेगा ।
इनके साथ मैं सौहार्द बढ़ाते देर नहीं लगती है, कारण कि ये
बड़े होकर भी छोटों से सनेह करते हैं । जो मनुष्य वास्तव में
सज्जन हैं उनमें ये गुण होते हैं:—

“विषय अलम्पट सीलगुनाकर ।

परदुख दुख सुख सुख देखे पर ॥

सम अभूतरिपु बिमद बिरागी ।

लोभामरण हरण भय त्यागी ॥

कोमलचित दीनन्द पर दाया ।

मन बच कम मम भगति अमाया ॥

सबहिँ मानप्रद आपु अमानी ॥”

सारण रखिए कि इसी प्रकार के मनुष्यों की संगति करना हमारे जीवन को सशरित्र, तेजस्वी और उत्तम बनायेगा ।

महाराजा श्रीरामचन्द्रजी आदर्श पुत्र थे और सदा अपनी तीनों माताओं की सेवा अपने हृदय से करते थे । यह उनके सम्बन्ध में संगेपन और सौतेलेपन के भांझटों से एक दम अलग थे । इनके लिये जैसी कौशल्या थीं वैसी ही सुमित्रा और कैकेयी भी थीं । जब रानी कैकेयी ने इनको धन

तुलसीदास की नीति ।

३३

जाने की कठोर आशा दिलचारी है, तब देखिए इन्होंने कैसे प्यारे
शब्द कहे हैं:—

“सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी ।
आ पितु मातु बचन अनुरागी ॥

.....
भरत प्रानप्रिय पावहि॑ राजू ।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ॥
आ न जाहु॑ बन ऐसेहु काजा ।
प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा ॥

.....
योरिहि बात पितहि दुख भागी ।
हानि प्रतीति न मोहि महतारी ॥”

ग्रहा ! श्रीरामचन्द्रजी ने अपनी उसी सौतेली माँ कैकेयी से
ये अस्वन्त मधुर वचन कहे हैं जिसकी कुटिलता ने उन्हें युवराज
से वनवासी बना दिया । प्रत्येक पुत्र को अपनी माता घैर पिता
की आशा सदा सक्ते हृदय से माननी चाहिए, कारण कि—

“अनुचित उचित विचार तजि
जे पालहि॑ पितु वैन ।
ते भाजन सुख सुजास के
बसहि॑ अमरपति येन ॥”

इसी नीति का पालन करके श्रीरामचन्द्रजी ने राज्य घैर
उसके सुख को लिनके के भी बराबर न समझा घैर अपने

पिता तथा सौतेली माँ की आशा को मानकर तुरन्त वन का रास्ता लिया । धन्य हैं ऐसे आशाकारी पुत्र । इसी प्रकार के आदर्श पुत्र अपनी जननी और जन्मभूमि का उद्घार करते हैं ।

जो बर्ताव भाई के साथ भाई को करना चाहिए उसके श्रीरामचन्द्रजी, लक्ष्मण और भरत सबे आदर्श हैं । लक्ष्मण का चरित्र आदि से लेकर अन्त तक बहुत प्रशंसनीय रहा इसमें रक्ती भर भी सन्देह नहीं है, परन्तु भरत के समान आत्मल्यागी और उदार-हृदय भाई भी मनुष्य को बिरला ही मिलेगा । यहाँ पर भरत और लक्ष्मण की तुलना करके हम किसी को कम या ज्यादा नहीं कहते हैं । ये दोनों ही अपने अपने ढङ्ग से हमारे लिये उत्तम उदाहरण हैं । लक्ष्मण के चरित्र से हमें यह शिक्षा मिलती है कि यदि भाई पर धोर दुःख पड़े, तो भी उसका साथ कभी न छोड़ना चाहिए । इसीसे इन्होंने माता, पिता, और पत्नी सभी को स्याग दिया, परन्तु इन्होंने वन में, पहाड़ों पर और युद्धों में अपने भाई का साथ दिया और सदा उसे अपना पूज्य देवता माना । इधर भरत को देखिए, अपने बड़े भाई के गौरव को समझने के कारण इन्होंने राज्य को पाकर उसकी कुछ भी परवा न की और श्रीरामचन्द्रजी में अपनी अद्वा वैसी ही स्थिर रक्खी ।

भरत यह कभी न चाहते थे कि मैं राजा बनूँ और मेरा बड़ा भाई वनवासी हो । यह सब करतूत के बल उनकी माता, की थी । वह अपने हृदय से चाहते थे कि श्रीरामचन्द्रजी ही

राजा होंगा और मैं सदा उनकी सेवा करूँ । इस भय से कि कदाचित् सब मनुष्य यह समझें कि मेरी ही इच्छा से रानी कैकेयी ने विष का बीज देया है, उन्होंने इस अभिशाप का प्रतिवाद करने हुए अपनी सौतेली माता रानी कौशल्या से यह कहा:—

“जे अध मातु-पिता-गुरु मारे ।
गाइगोठ महि-सुर-पुर जारे ॥
जे अध तिय-बालक-बध कीन्हे ।
मीत महीपति माहुर दीन्हे ॥
जे पातक उपपातक अहम्ही ।
करम-बचन-मन-भव कबि कहम्ही ॥
ते पातक मोहि हाहु बिधाता ।
जौं पहु हाइ मोर मत माता ॥”

भरतजी ! तुम्हारी जो कुछ प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है । इन्हे प्रबल शब्दों की आवश्यकता न थी, कारण कि तुम्हारी सुर्शालना और बदारता को देख कर कोई पुरुष यह कमी न सोच सकता था कि तुमने स्थाम में भी यह चाहा होगा कि तुम्हें राज्य और तुम्हारे प्यारे भाई को वनवास मिले । धन्य हो भरत ! तुम भ्रातु-रजा हो और भ्रातुत्व के पवित्र आदर्श हो ।

केवल कलंक को हटा कर ही भरत का सन्तोष न हुआ, इन्होंने इस प्रकार से अपना सम्मा गत प्रकट किया:—

“हित हमार सियपति सेवकाई ।
सो हरिलीन्ह मातु कुटिलाई ॥

मैं अनुमानि दीख मन माहोँ ।
 आन उपाय मोर हित नाहोँ ॥
 सोक समाज राज केहि लेखे ।
 लघन राम सिय पद बिनु देखे ॥

...

मोहि राज हठि देवहु जबहोँ ।
 रसा रसातल जाइहि तबहोँ ॥
 मोहि समान को पापनेवासु ।
 जेहि लगि सीय राम बनबासु ॥”

इस प्रकार से अपने को धिकार कर भरत अन्त में श्रीराम-चन्द्रजी से बन में जाकर मिले और इन्होंने उनसे वापस आने के लिये बहुत कुछ अनुरोध किया, परन्तु जब उन्होंने-अपना प्रणान छोड़ा, तब भरत ने लौट कर उनकी चरण-पादुकाओं को राज-सिंहासन पर रखा और स्वयं एक साधारण मन्त्री बनकर चोदह वर्ष तक राज्य का शासन किया । इसमें सन्देह नहीं कि भरत ने आत्मत्याग और स्नातु-सेवा देनी ही को अपने सबसे ऊँचे शिखर पर पहुँचा दिया ।

पढ़ी के साथ मैं पति को जैसा बर्ताव करना चाहिए उसी श्रीरामचन्द्रजी ने पूरे तौर से दिखा दिया है । पहले इनकी यह इच्छा थी कि अपनी सास की सेवा के लिये सीता अयोध्या ही में रुकें । यह विचार कर इन्होंने उनसे कहा:—

“राजकुमारि सिखावन सुनहूँ ।
 आन भाँति जिय जानि कछु गुनहूँ ॥
 आपन मेर नीक जो यहहूँ ।
 बचन हमार मानि घर रहहूँ ॥
 आयसु मेर सासु सेवकाहै ।
 सब विधि भामिलि भवन भलाहै ॥
 पहिते अधिक धरण नहिँ दूजा ।
 सादर सासु ससुर पद पूजा ॥

 कहउँ सुभाय सपथ सन मोही ।
 सुमुखि मातु हित राखउँ तोही ॥”

श्रीरामचन्द्रजी ने अपनी हृषि में अपनी पहरी को उचित ही शिक्षा दी, परन्तु पति-प्राणा सीता उसे कब स्वीकार कर सकती थीं, इसलिये इन्होंने—

“बरबस रोकि बिलोचन बारी ।
 धरि धीरज डर अबनिकुमारी ॥
 लागि सासुपग कह कर जोरी ।
 छमचि मातु बड़ि अबिनय मोरी ॥
 दीनह प्रानपति मोहि सिख सेरी ।
 औहि विधि मेर परम हित होई ॥
 मैं पुनि समुझि दीख मन मोही ।
 पिय-खियोग सम दुख जग नाहीं ॥”

इसके सिवा इन्होंने अपने प्यारे पति से भी विनय की, तब श्रीरामचन्द्रजी ने यह देख कर कि “हठि राखे राखहि नहिँ प्राना” आनन्द के साथ यह आशा सीताजी को दी:—

....

“परिहरि सोच चलहु बन साधा ॥
नहिँ विषाद कर अवसर आजू ।
बेगि करहु बन गमन समाजू ॥”

अपनी माना की सेवा के लिये सीता को घर पर छोड़ जाना श्रीरामचन्द्रजी का कर्तव्य था, परन्तु पतिव्रता खी का यह धर्म है कि वह अपने पति को ईश्वर से भी अधिक माने। इसी धर्म पर हृद रह कर सीता ने किसी न किसी प्रकार से अपने पति को साथ ले जाने के लिये मना लिया। यह पति-सेवा का ज्वलन्त हृष्टान्त और सभी लियों के लिये अनुपम आदर्श हैं।

अपने मित्र सुग्रीव का उपकार करने के लिये श्रीरामचन्द्रजी ने बिना किसी संकोच के उसके भाई, परन्तु शत्रु, बालि को अपने ही बाण से मार डाला। पूरी मिश्रता के हो जाने पर अपने मित्र का सुख अपना सुख, उसका दुःख अपना दुःख, उसका मित्र अपना मित्र, और उसका शत्रु अपना शत्रु हो जाता है। इस नीति के अनुकूल इन्होंने बालि पर अपना अनुष उठाया, नहीं तो उसके मारने से इन्हें क्या लाभ होता? श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं:—

“जे न मिथ्र दुख होहि दुखारी ।
निन्हहि विलोकन पातक भारी ॥
निज दुख गिरिसम रज कर जाना ।
मिथ्र के दुख रज मेह समाना ॥
जिन्हके अस भ्रति सहज न आई ।
ते सठ हठि कत करत मिताई ॥”

अपने मित्रों के साथ में उचित बर्ताव करने के लिये ये शब्द सभी को सुरण रखने चाहिए । कहीं ऐसा न हो कि हम कपड़ी मनुष्यों को अपना सच्चा मिथ्र समझ लें, इसलिये उनकी पहचान हमको बता दी गयी है:—

“कुपथ निवारि सुपथ चलावा ।
शुन प्रगटइ अवगुनहि दुरावा ॥
देत लेत मन संक न धरई ।
बल अनुमान सदा हित करई ॥
विपति काल कर सतगुन जेहा ।”

नौकरों के विषय में हमें सदा सचेत रहना चाहिए । रानी कीकेयी की अवस्था कम थी और अनुभव परिमित था । यदि अन्धरा के समान नीच और दुष्ट दासी रनिवास में न होती, तो सम्भव था कि राजा दशरथ का मरण और श्रीरामचन्द्रजी, लक्ष्मण और सीता का धनधास न होता—तो भरत अभिशाप से, सीता दुःख से, राज्य दुर्भाग्य से, राजियाँ वैधव्य से, और प्रजा विपति से बद जाती, परन्तु जो काम आग की पक कर्नी

करती है ठीक वही काम इस राक्षसी मन्थरा ने किया । रानी कैकेयी में स्वाभाविक सुशीलता वर्तमान थी, इसलिये जब इस दासी ने इनको बहकाया, तब पहले पहल इन्होंने उससे यह कहा: —

“जेठ स्वामि सेवक लघु भाई ।
यह दिनकर कुल रीति सदाई ॥

.....
कौसल्या सम सब महतारी ।
रामहि॑ सहज सुभाय पियारी ॥
मोपंट करहि॑ सनेह बिसेखी ।
मैं करि प्रीति परीच्छा देखी ॥
जो विधि जनम देह करि छेहू ।
होहि॑ राम सिय पूत पतोहू ॥
प्रान तें अधिक राम प्रिय मोरे ।
तिन्हके तिलक छेमु कस तोरे ॥”

इसी सौम्य रानी को मन्थरा ने नीच बना दिया और आद को इसके मुँह से ये बचन राजा दशरथ से कहलाएः —

“सुनहु प्रानप्रिय भावति जीका ।
देहु एक बर भरतहि॑ ठीका ॥
माँगड़ दूसर बर कर जारी ।
पुरबहु नाथ मनोरथ मोरी ॥
तापस बेष बिसेषि उदासी ।
चौदह बरिस राम बनवासी ॥”

उन्हों “प्रान ते अधिक राम प्रिय मेरे” के लिये यह कृत इच्छा कि “चौदह बरिस राम बनवासी” हों ! यह मन्थरा की भयझुक कुमन्त्रणा का फल था । अपने को घोर विपत्तियों से बचाने के लिये हम को दुष्ट नौकरों के फेर में कभी न पड़ना चाहिए और उनको तुरन्त निकाल देना चाहिए ।

(३) साधारण नीति ।

जो मनुष्य पैरे नौर से सत्य का गालन नहीं करता है वह केवल गाप ही नहीं करता, बरन अपने जीवन को भी निष्ठ-नीय, अपयशी और निष्फल बनाता है । जिसके पास सत्यरूपी मणि नहीं है उसका जीवन वास्तव में अन्धकार से भरा हुआ है; वह नेत्रों के होते हुए भी ठीक रास्ते पर न चल सकेगा । सच्चाई के साथ सांचने से हमारा मन, सच्चाई के साथ बोलने से हमारी वाणी और सच्चाई के साथ सब काम करने से हमारा सारा जीवन पवित्र हो जाता है । झूठ बोलना अपने को नीच बनाना है—इतना ही नहीं, जीवन को सत्यानाश करना है । कुछ मनुष्य यह कहते रहते हैं कि संसार में रह कर बिना झूठ बोले काम ही नहीं चलता है, परन्तु हम बहुत प्रबल शब्दों में कहते हैं कि यह प्रछाप अत्यन्त नीच, अत्यन्त छजास्पद और अत्यन्त निष्पार है । यह बात वे मनुष्य सोचते हैं जो प्रायः असत्य बोला करते हैं, क्योंकि उनकी आँखों पर मुठाई का चश्मा बढ़ जाता है । ऐसे मनुष्य सिवा असत्य के और कुछ नहीं देख

पाते हैं, इस कारण से वे यह समझने लगते हैं कि बिना झूठ बोले काम ही नहीं चल सकता है । हाँ, यह ठीक है कि यदि दो एक बार असत्य से काम लिया जाय, तो उसके कारण से हजार बार झूठ बोलना पड़ेगा और फिर धीरे धीरे मारा जीवन इसी के काले रंग में रँग जायगा, परन्तु हम यह कहते हैं कि पहले से एक बार झूठ बोल कर इस पाप की नीव ही क्यों ढाली जाय ? सदा सब बोलिए थेर झुटाई को अपने पास न आने दीजिए, तो निश्चय रखिए कि किसी समय भी आपको असत्य न बोलना पड़ेगा, और सत्य ही आपको सदा सफल, यशस्वी और विजयी बनायेगा ।

सत्य ही के कारण राजा दशरथ ने अपने प्यारे पुत्र श्रीराम-चन्द्रसी को घनधारा की आङ्गा दी और अनन्तर अपने प्राण तक छोड़ दिये, परन्तु उन्होंने जो घनन एक बार दिया था उसको दैटालने का विचार स्वयं तक में न किया । यह कहते हैं:—

“रघुकुल रीति सदा चलि आई ।
प्रान जाई वह बचन न जाई ॥
नहीं असत्य सम पातकपुंजा ।
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा ॥
सत्य भूल सब सुकृत सोहाई ।
बेद पुरान विदित मुनि गाई ॥”

राजा दशरथ का सत्यपालन वास्तव में अलौकिक था । यही उनके हृषि-प्रतिष्ठ बने रहने का प्रधान कारण हुआ ।

वे स्मरण-बूझ किसी बात को मुँह से न निकालना चाहिए, जिसमें अन्त में किसी प्रकार का भी असर्मज्जस न हो। सत्य-बादी मनुष्य को विचारशील और विवेकपूर्ण होना चाहिए; इस दशा में उन्हें न तो अपनी बात को बदलना और न विपर्ति में गिरना पड़ेगा। यह सदा सरणा रखना चाहिए कि पहले से साच-विचार कर ही किसी बात को कहना या करना उचित है, परन्तु उसके उपरान्त जो कुछ हुआ सो हुआ और फिर उसके लॉट-पॉट करने का विचार पापमात्र है।

हम आज कल संसार को सत्य से प्रायः शून्य पाते हैं, इस लिये हमने ज्ञान-बूझ कर इस बात पर यहाँ ज्यादा ज़ोर दिया है। सत्य को क्लाइ देने ही से हमें दानि, लज्जा, धृणा, अपयश और निष्फलता का पात्र बनना पड़ता है। असत्य के कारण इन दिनों में संसार उलटी गति से खल रहा है, और यदि हम इसमें सुधार न करेंगे, तो हम दिनों दिन नीचे ही गिरते जायेंगे और किसी तरह से भी उज्ज्वलि न कर सकेंगे। हम मानसिक सत्यता, धार्मिक सत्यता, कायिक सत्यता, हार्दिक सत्यता, धार्मिक सत्यता और धारित्रिक सत्यता—सभी प्रकार की सत्यताओं—के पक्षपाती हैं। हमें चाहिए कि सभी लियों और पुरुषों, जालिकाओं और खालकों के हृदयों पर यह साथी रूप से लिखा दे:—

“तन तिय तनय धाम धन धरनी ।

सत्यसिंशु कहूँ तन सम बरनो ॥”

और उनको सदा यह स्मरण रखने का उपदेश दे:—

“दिवि दधीच इरिचन्द्र नरेसा ।

सहे धरम हित कठिन कलेसा ॥

रन्नदेव बलि भूग सुजाना ।

धर्म धरेऽ सहि संकट नाना ॥

धरम न दूसर सत्य समाना ।

आगम निगम पुरान बखाना ॥”

यह कभी न भूलिए कि सत्यवादी मनुष्य नरक को भी रखा
बना लेगा और असत्यवादी के लिये स्वर्ग भी नरक हो जायगा।

हमको सदा दूसरों का उपकार करना चाहिए। तुलसी-
दास कहते हैं:—

“परहित सरिस धरम नहि॑ भाइ॑ ।”

और इसके सिथा वह यह भी लिखते हैं:—

(१) “कुति कह परम धरम उपकारा ।”

(२) “परहित लागि तजहि॑ जे देही ।

सन्त सन्त प्रसंसहि॑ तेही ॥”

दूसरों के वास्तविक उपकार के लिये अपना यथोचित समय,
धन और पुरुषार्थ व्यय करने के बाद देखिए कि जिस को कितना
बड़ा सन्तोष होता है। जिस मनुष्य ने परोपकार न किया उसका
जीना बृथा है। हम उसी को धर्मशील कहेंगे जो दूसरों के
हित में तत्पर रहता है। देखिए उसके विषय में क्या कहा
गया है:—

“जिमि सरिता सागर महँ जाहोँ ।
जदयि ताहि कामना नाहोँ ॥
तिमि सुख समति बिनहिँ बुलाये ।
धर्मसोल पहं जाहिँ सुभाये ॥”

अधिक क्रोध करना नीति के प्रतिकूल है। क्रोधी मनुष्य अपने सुख और शान्ति को खो देता है, उसके साथ ही वह दूसरे की शान्ति और सुख को भी छीन लेता है—वह स्वयं अपने क्रोध की आग में जलता और दूसरों को भी उसमें जलाता है, इसी कारण से—

“लपन कहेड हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल ।
जेहि बस जन अनुचित करहिँ चरहिँ विस्व प्रतिकूल ॥”

यदि सच पूछिए, तो क्रोध मनुष्य को पशु से भी अधिक नीच बना देता है।

किसी के यहाँ बिना बोलाये जाना अनुचित है। इस बात में अपनी हँसी हैती है और अपना समय भी नष्ट होता है। अब पार्वती ने निमन्त्रण के न आने पर भी दक्षप्रजापति के यहाँ यक्ष में जाने के लिये बहुत हठ किया, तब शिवजी ने कहा:—

“ओ बिन धोले जाहु भवानी ।
रहइ न सीलु सनेहु न कानी ॥
जदयि मिन्न प्रभु पितु गुरु गैहा ।
जाइय बिनु धोलेहु न सँदेहा ॥”

तदपि विरोध मान जहाँ कोई ।

तहाँ गये कल्यान न होई ॥”

यहाँ पर तुलसीदास ने हमें यह शिक्षा दी है कि यिना बुलाये किसी के यहाँ जाने से शील और स्नेह और गौरव नहीं रहना है, और यद्यपि गुरु, पिता, मित्र और स्वामी के घर हम वैसे भी जा सकते हैं, तथापि जहाँ कोई अपने से बैर मानना हो वहाँ हमें कभी न जाना चाहिए, क्योंकि उसका फल बुरा होगा ।

हम नीचे तुलसीदास की कुछ फुटकर नीति लिख रहे हैं ।
इसे स्मरण रख कर हम सदा बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं ।
गोसाई जी कहते हैं:—

(१) “अरथ तजहि॑ बुध सरबस जाता ।”

(२) “जहाँ सुमति॑ तहाँ सम्यति॑ नाना ।
जहाँ कुमति॑ तहाँ विपति॑ निदाना ॥”

(३) “बच्चन परम हित॑ सुनत कठोरे ।
कहहि॑ सुनहि॑ ते नर प्रभु थोरे ॥”

(४) “अति॑ नीचहु॑ सन प्रीति॑
करिय जालि॑ निज परम हित॑ ॥”

(५) “अति॑ संघरणन करै॑ जो कोई ।
प्रगट अनल चम्दन ते होई ॥”

(६) “समरथहि॑ नहि॑ दोष गोसाई॑ ।
रवि पावक सुरसरि॑ की नाई॑ (।)”

- (७) “सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख
जो न करै सिर मानि ।
सो पछिताद अधाइ उर
अवसि हाइ हित हानि ॥”
- (८) “सम्भावित कहँ अपजस लाहू ।
मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥”
- (९) “सेवक सठ नृप कृपन कुनारी ।
कपटी मिथ सूल सम चारी ॥”
- (१०) “ग्रनु जबधू भगिनी सुतनारी ।
सुनु सठ ये कन्या सम चारी ।
इन्हैं कुहष्टि बिलोकहि जोर्है ।
ताहि बधे कछु पाप न होर्है ॥”
- (११) “भानु पीठि सेहय उर आगी ।
स्वामिहि सर्वभाव छल त्यागी ॥”
- (१२) “उमा संत की यहाइ बड़ाई ।
मंद करत लो करै भलाई ॥”
- (१३) “पर उपदेस कुसल बहुतेरे ।
जे आचरहैं ते नर न घमेरे ॥”
- (१४) “सठसन विनय कुटिल सन प्रीती ।
सहज कृपन सन सुन्दर नीती ।
मगतारत सन शान कहानी ।
अति लोभी सन विरति बखानी ॥”

कोधिहिैं सम कामिहिैं हरि कथा ।

ऊसर बीज बये फल जथा ॥”

(१५) “काटेहिै पै कदली फरै

काटि जतन करि सोँच ।

बिनय न मान खगेस सुनु

डाटेहिै पै नव नीच ॥”

(१६) “फूलहिै फरहिै न वेत

जदपि सुधा बरषहिै जलद ।

मूरख हृदय न चेत

जो गुरु मिलहिै विरंचि सम ॥”

(१७) “जल पय सरिस विकाइ

देखहु प्रीति कि रीति भलि ।

बिलग हौइ रस जाइ

कपट छटाई परत ही ॥”

(१८) “नहिै कोइ अस जनमेहु जग माहीै ।

प्रभुता पाइ जाहिै मद नाहीै ॥”

(१९) “बातुल भूत विवस भतवारे ।

ये नहिै बोलहिै बचन संभारे ॥”

(२०) “जेहिै के जेहिै पर सत्य सनेहू ।

सो तैहिै मिलहिै न कलु सन्देहू ॥”

(२१) “दृष्टि बारि बिनु जो तन तथागा ।

मुये करहिै का सुधा तड़ागा ॥”

का बरथा जब कृष्णी सुखाने ।
समय चूकि पुनि का पछिताने ॥”

- (२२) “टेढ़ जानि संका सब काहू ।
बक चन्द्रमहिँ ग्रसै न राहू ॥”
- (२३) “नहिँ बिष बेलि अमिय फल फरहीँ ।”
- (२४) “झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने ।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ॥”
- (२५) “कादर मन कर एक अधारा ।
दैव दैव आलसी पुकारा ॥”

ये सब नीति के जीते और जागते हुए रक्त हैं। इनको अपने उपर्योग में लाकर हम अनेक समयों में सफलता पा सकते हैं।

जब मनुष्य के प्राण निकल जाते हैं, तब तो वह मर ही जाता है, परन्तु कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो प्राणों के होते भी मरे हुए हैं। इनमें से अनेक पाप के कीड़े हैं और वास्तव में इनका होना और न होना बराबर है। स्मरण रविधः—

“कौल कामबस कृपन विमूढा ।
अतिदरिद्र अजसी अतिबृद्धा ॥
सदा रोगबस सत्तत कोधी ।
रामविमुख शुति सन्तविरोधी ॥
तमपोषक निष्वक अधखानी ।
अमर्जीवत सम चौदह प्रानी ॥”

गोसाईजी, आपने बहुत ही ठीक कहा है। ये सचमुच “अनजीवत सम” हैं।

हम तो इनको “अनजीवतों” से भी ज्यादा बुरा कहेंगे। इनमें से अनेक मनुष्य अपनी दुष्टता के प्रभाव से दूसरों तक को सत्यानाश कर देते हैं। हमको चाहिए कि हम जब तक जीवित हैं, तब तक “सचमुच जीवित” रहें, तथा अपना कल्याण करने के साथ ही दूसरों को भी अपने समाज बुद्धिमान्, योग्य, परिश्रमी, सुशील और तेजस्वी बनावें।



३. तुलसीदास और स्त्रीरत्न ।*

स्त्री प्रकृति की कोमलता, प्रसन्नता, सहनशीलता, पीरता, सुन्दरता, पवित्रता और शान्ति का निष्कर्ष है। प्रकृति में जो कुछ उदार, परिष्कृत और मनोहर है वह सब खो-जाति में बर्तमान है। इनको स्वभाव से ही पवित्र और सच्चरित्र होना चाहिए। यदि कहीं कहीं पर उच्छुङ्खल खियाँ हमारे देखने में आती हैं, तो वे पापी पिताजीं, दुराचारी पतियाँ और दुष्ट पुत्रों के नीच आदर्शों के परिणाम मात्र हैं। कोई भी देष्ट क्यों न हो, वह प्राकृतिक रीति से खो का नहाँ, बरन इसके अनुचित शिक्षण का है। यदि हम स्वयं सदा अच्छी चाल चलें और इनको सामने उत्तम ही आदर्श रखें, तो निश्चय रखिए कि किसी प्रकार का भी बुरा प्रभाव उन्हें अपने स्वामाधिक गुणों से वंचित नहाँ कर सकता है और उस समय ये लक्ष्मी बन कर हमको सुखी, घर को आनन्दमय,

* आक्षेप १६१४। “काल्यकुञ्ज” भाग ६, अंक ११, पृष्ठ २—११। स्वतन्त्र।

जाति को उन्नत ग्रौर देश को उज्ज्वल बनावेंगी । ब्रह्मा ने खी-खपी अमूल्य रक्ष की रचना करके मनुष्य के जीवन को सरस ग्रौर संसार को पवित्र बना दिया है ।

यदि सब पूछिए, तो तुलसीदास को अपने हृदय से खी-जाति का कृतज्ञ होना चाहिए था, क्योंकि यह एक बार स्वयं इन्होंने लिखा था:—

“कटे एक रघुनाथ सँग बाँधि जटा सिर केस ।

हम तो चाला प्रेम रस पली के उपदेस ॥”

इस प्रकार के मनुष्य के मुँह से खियों की प्रशंसा ही अधिक शोभा देती, परन्तु वैराग्य लेने के बाद जब इन्होंने रामायण लिखी, तब न जानें क्यों यह उन पर कटाक्ष करने से न चूके । “पत्नी के उपदेस” से “प्रेमरस” के चलनेवाले तुलसीदास कहते हैं:—

(१) “काम क्रोध लोभादि मद
प्रबल मोह की धारि ।

तिन महँ अति दाढ़न दुखद
मायारूपी नारि ॥”

(२) “अवगुन मूल सूल प्रद
प्रमदा सब दुख खानि ।”

(३) “डोल गँवार सूद पसु नारी ।
ये सब ताड़न के अधिकारी ॥”

(४) “नारि सुभाड सत्य कथि कहहौँ
अवगुन आठ सदा उर रहहौँ ॥

साहस अनृत चपलता माया ।

भय अविवेक असौच अदाया ॥”

गोसाईंजी ! हमें आशा न थी कि आप ललनाथों पर ऐसी अनुदार सम्मति देंगे, कारण कि अपनी पत्नी ही की कृपा से आप इस संसार में अपने को अमर बना गये हैं ! आपने स्वयमेव पार्वती, कौशल्या, सुमित्रा और सीता की प्रशंसा की है । हम इनके सिवा आपको अरुचती, अनुसूया, गार्गी, मैत्रेयी, साधिनी, शकुन्तला, दमयन्ती, कादम्बरी, अहिल्या इत्यादि के सैकड़ों उदाहरण देकर यह दिखला सकते हैं कि आपका एक और से खो-जाति पर हाथ साफ़ करने का प्रयास अनुचित है । हाँ, हम यह मानते हैं कि आपके बतलाये हुए कुछ दोष कभी कभी कुछ छियों में पाये जाते हैं, परन्तु केवल इसी बल पर सारी जाति की निन्दा करना असंगत है । यदि लैकिक “प्रेमरस” को बुढ़ापे तक चलने के बाद किसी अनुभवशील मनुष्य ने पवित्र-हृदय छियों पर इतनी संकुचित सम्मति आपके समान दी होती, तो हम उसे थोड़ा-बहुत प्रामाणिक मान सकते थे, परन्तु आपने तो युधावन्धा ही में पत्नी से सम्बन्ध तोड़ दिया और विरक्त पुरुष हो गये । आप में और हम में मतभेद होना स्वाभाविक है, कारण कि हम इस लोक में रह और आप इस से विरत हैं । आप भले ही छियों को अपनी हृषि से देखिए, परन्तु हमें उनको उस स्वरूप में देखना है जो वास्तव में उन्हें प्रकृति ने दिया है ।

बिना उचित शिक्षा के लियों के सच्चे गुण देवे रहते हैं, इसलिये छोटे ही पन से हमें उनको लिखाना और पढ़ाना चाहिए । उनको जितनी ऊँची और जितनी उत्तमता के साथ उनकी बुद्धि और गुणों का विकास होगा । इस समय में उनके चरित्र और प्रतिवेश * पर हमें पूरा ध्यान देना चाहिए, कारण कि अभी चूक जाने से सदा के लिये उनका स्वभाव बिगड़ सकता है और बाद को फिर हमारे बनाये कुछ न बन सकेगा । जो माता और पिता अपनी पुत्रियों को पढ़ाते समय और वैसे भी सदा उनकी अच्छी संगति, उनकी वास्तविक पवित्रता, उनके सच्चे सदाचरण, उनके सामाजिक और धार्मिक विचार, और उन सब प्रभावों को, जो सब समय उन पर अपना असर डालते रहते हैं, उचित रूप से ठीक नहीं रखते हैं उन्हीं की शिक्षा बाद को विष होकर उनको सत्यानाश कर देती है । हमको चाहिए कि हम हर एक कल्या को यह ज़रूर अच्छी तरह से समझा दें:—

“नारि धरम पति देव न दूजा ।”

और:—

“सासु सप्तुर गुरु सेवा करहू ।
पति रुच लखि आयसु अनुसरहू ॥”

* Environment. (प्रतिवेश = वे सब प्राणी, पशुधैर्य और प्रभाव जिनके बीच में रह कर मनुष्य अपना समस्त जीवन व्यतीत करता है)

यही हमारी पवित्र भारतीय लिंगों का आदर्श है। यदि शिक्षा ने उनका चित्त इसी मुख्य उपदेश से फेर दिया, तो लिखना और पढ़ना उनके लिये कौड़ी मोल का भी नहीं है। प्रत्येक शिक्षित लड़ी के लिये उचित है कि वह अपनी योग्यता से इस पति-सेवा के आदर्श को और भी ज्यादा ऊँचा, पवित्र और उज्ज्वल बना दे।

हमारे यहाँ सदा से पुनर्बधू का बड़ा आदर होता चला आया है, तभी यह नियम रखना गया है:—

“बधू लरिकिनी पर घर आईं ।

राखेहु नयन पलक की नाईं ॥”

राजा दशरथ ने यह आज्ञा अपनी रानियों को दी थी कि सीता इत्यादि को उसी सत्कार के साथ रखना जैसे पलक आँख को रखती है—आँखों के सुख और बचाव के लिये पलक सभी समय से ते और जागते तैयार रहती हैं। देखिए रानी कौशल्या अपनी बहू का कितना ज्यादा प्यार करती थी:—

“मैं पुनि पुनर्बधू प्रिय पाईं ।

कप रासि गुन सील सुहाई ॥

नयन पुतरि इव प्रीति बढ़ाई ।

राखहुँ प्रान जानकिहिँ लाई ॥

कहपवेलि जिमि बहु बिधि लाली ।

सीँचि सनेह-सलिल प्रतिपाली ॥”

सास को अपनी पतोह के साथ सदा इसी प्रकार का स्नेहमय बर्ताव करना चाहिए और उधर वधू को चाहिए कि उसको अपनी माँ से भी ज्यादा समझे, तभी हमारे घरों में सुख और शान्ति विराजेगी ।

मनुष्य को केवल एक विवाह करना चाहिए । यदि वह अपनी पत्नी के जीते हुए दूसरा व्याह करता है, तो वह ज़रूर अनुचित काम करता है । जिस प्रकार से पत्नी के लिये पतिवता होना आवश्यक है, वैसे ही पति को भी एक समय में एकमात्र पत्नी को अपने ग्रेम की देवी बनाना चाहिए, तथापि यदि दुर्भाग्य-बश एक पुरुष के दो या तीन लिंगों हो जावें, तो उन सब को आपस में मेल से रहना चाहिए, नहीं तो घर कलह और दुःख से भर जायगा । राजा दशरथ की तीनों रानियों पहले बड़े सौहार्द के साथ रहती थीं । देखिए रानी कौशल्या अपनी छोटी सौत की निदुर आक्षा को मानने के लिये अपने प्यारे पुत्र राम से किस प्रकार से अनुरोध करती हैं:—

“तात जाऊँ बढ़ि कीन्हेड़ नीका ।

पितु आयसु सब धरम क टीका ॥

जैं केवल पितु आयसु ताता ।

तै जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥

जैं पितु मातु कहेड़ बन जाना ।

तै कानन सत अवध समाना ॥

पितु बनदेव मातु बनदेवी ।

खग मृग चरन सरोहह सेवी ॥”

अहा ! रानी कौशल्या का आत्मत्याग सचमुच प्रशंसनीय है । वह कहती है—हे “बेटा, यदि केवल पिता ने वन जाने की आज्ञा दी है, तो मैं तुम्हारी सर्गी माँ हूँ, मेरी आज्ञा से तुम कदापि वहाँ को न जाओ, परन्तु यदि पिता ने और उनके साथ ही तुम्हारी सौतेली माँ—मेरी सौत—ने भी यह आज्ञा दी है, तो तुम्हारे लिये वन ही अवध के समान है और तुम आनन्द-पूर्वक वहाँ को जाओ, मैं तुम्हें कभी न रोकूँगी ।”

इसी समय में लक्ष्मण अपनी माँ के पास श्रीरामचन्द्रजी के साथ वन जाने की आज्ञा माँगने के लिये पहुँचे । यदि रानी सुमित्रा को रानी कौशल्या से सज्जा प्रेम न होता, तो इन्हें क्या परवाधी कि सौत के लड़के के साथ यह अपने प्रिय पुत्र को जाने की आज्ञा देतीं, परन्तु यह भी आत्मत्याग में कुछ कम न थीं, और इन्होंने धैर्य रख कर लक्ष्मण से यह कहा:—

“तात तुम्हारि मातु बैदेही ।

पिता राम सब भाँति सनेही ॥

अवध तहाँ जहाँ राम निवास् ।

तहाँ दिवस जहाँ भानु प्रकाश् ॥

जो पै राम सीध वन जाहाँ ।

अवध तुम्हार काज कहु नाहाँ ॥

.....

अस जिय जानि संग बन जाहू ।
लेहु तात जग जीवन लाहू ॥

.....
तुम कहँ बन सब भाँति सुपासू ।
संग पितु मातु राम सिय जासू ॥
जेहि न राम बन लहहिँ कलेसू ॥
सुंत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥”

सिवा रानी सुमित्रा के थोर कौन माता इतनी उदारता दिखायेगी । इनकी जो कुछ प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है ।

राजा को अपनी छोटी रानी सबसे ज्यादा प्यारी होती है । राजा दशरथ कैकेयी को वैसे ही बहुत चाहते थे । एक बार इन्होंने लड़ाई में उनकी बड़ी सहायता की थी, तबसे वह इनको थोर भी ज्यादा मानने लगे थे । वह इनके लिये यहाँ तक तैयार रहते थे:—

“कहु केहि रंकहिँ करोँ नरेसू ।
कहु केहि नृपहिँ निकारोँ देसू ॥
सकोँ तीर आरि अमरहिँ मारी ।
कदा कीट बपुरे नर नारी ॥
आनसि मोर सुमाड बरोड ।
तब मुख मम हग चन्द चकोड ॥
प्रिया प्रान बस सरबस मोरे ।
परिजन प्रजा सकल बस तोरे ॥”

अपने पति की इतनी प्रिय होकर भी रानी कैकेयी अपनी सौतों के साथ बड़ा मेल रखती थीं और उनके पुत्रों को अपने ही पुंच के समान मानती थीं । यह स्वभाव से ही सनेह और सुशीलता से भरी थीं, इसलिये जब पहले पहल मन्थरा ने इनको बहकाना शुरू किया, तब इन्होंने उससे डाट कर कहा:—

“पुनि अस कबहुँ कहेसि घर फोरी ।

तव धरि जीम कढावडँ तोरी ॥”

इतना ही कह कर रानी कैकेयी को शान्ति न हुई । इन्होंने अपना सच्चा अभिप्राय इन शब्दों में व्यक्त किया:—

‘जेठ स्वामि सेवक लघु भाई ।

यह दिनकर कुल रीति सदाई ॥

.....
कौसल्या लम सब महतारी ।

रामहि खहज सुभाय पियारी ॥

मैं पर करहि सनेह बिसेखी ।

मैं करि प्रीति परीच्छा देखी ॥

.....
प्रान तै अधिक राम सिय मोरे ।

तिनके तिलक छामु कस तोरे ॥”

रानी कैकेयी ! हम तुमको भी धन्य कहेंगे ! यदि तुम इतनी उदार-चित्त न होतीं, तो तुम्हारे गर्भ से भरत के समान उत्तम पुत्र का जन्म कभी न होता । तुम मैं सुन्दरता, वीरता, उदा-

रता, सुशीलता, और प्रेम सभी कुछ था, परन्तु केवल अनुभव न था । इसी कारण से मन्थरा के फेर में पड़ कर तुमने अपने नाम को सदा के लिये कर्लाङ्कुत कर दिया । तुम्हारा जीवन आदर्श और उपदेश * के रूप में हमारी हृदयों के लिये बड़े काम का है ।

जब तक पलो और पति के हृदयों में पूरा ऐक्य नहीं होता है, तब तक विवाह के बाद उन दोनों का जीवन अस्त्यन्त नीरस बना रहता है । आपस में एक की दूसरे के लिये सच्ची प्रति के होते ही हृदयों के संयोग में देर नहीं लगती है । इस दशा में लो और पुरुष के बीच में कोई अन्तर नहीं रह जाता । दोनों हृदयों का स्पन्दन तक एक ही साथ होता है । ये दो शरीरों के होते हुए भी एक प्राण हो जाते हैं । यदि सच पूछिए, तो दो शरीर भी एक ही हो जाते हैं; मनुष्य अपनी पली का दाहिना अङ्ग और ली उसकी “वामाङ्गी” हो जाती है । दोनों के प्राणों, हृदयों और शरीरों का एक हो जाना ही हमारे विवाहित जीवन की पूरी सफलता और पूरी शोभा है ।

श्रीरामचन्द्रजी और सीता का चरित्र हमारे लिये एक अनूठा आदर्श है । इन दोनों के हृदयों में एक का दूसरे के लिये स्थानाविक स्नेह वर्तमान था, इसी कारण से राजा जनक की

* (Warning.) जो यह सिखतावे कि मनुष्य को किन बातों से बचे रहना चाहिए ।

पुलवारी में सीता को देखने के बाद ही उन्हें लक्षण से यह कहना पड़ा:—

“ जासु बिलोकि अलौकिक सोभा ।

सहज पुनीत मोर मन छोभा ॥

सो सब कारन जान बिधाता ।

फरकहिँ सुभग अंग सुनु भ्राता ॥”

यहाँ भावी पति का हृदय इस प्रकार से उल्लिखित हो रहा था, वहाँ—

“सकुचि सीय तब नयन उधारे ।

सनमुख दोउ रघुबंस निहारे ॥

.....

परबस सखिन लखी जब सीता ।

भई गहर सब कहहिँ सभीता ॥”

क्यों न पेसा हो, जब दोनों का हृदय एक था, तब देखते ही देखते यह प्राकृतिक प्रेम तरंगे लेने लगा। स्वयंधर के समय जब बड़े चीर ग्रौर बली राजा चन्द्रचूड़ के चाप को उठा तक न सके—उसका तोड़ना दूर रहा, तब सीता को बड़ी व्याकुलता हुई, क्योंकि जो काम बलवान् भनुष्य न कर सके थे उसे किशोर अवस्थावाले श्रीरामचन्द्रजी कर सकेंगे यह किसके मन में आ सकता था, परन्तु प्रेम में अतुल बल है ग्रौर उसी पर भरोसा करके सीता ने यह निश्चय कर लिया:—

‘तन मन बचन मोर पन साँचा ।
 रघुपति पद सरोज चितु राँचा ॥
 तो भगवान् सकल उरबासी ।
 करिहहिं मोहि रघुपति की दासी ॥
 जेहिके जेहि पर सत्य सनेहू ।
 सो तेहि मिलह न कछु सन्देहू ॥’

इसमें रक्ती भर भी सन्देह नहीं है कि सच्ची प्रीति के होने पर अपनी इच्छा पूरी होती है । श्रीरामचन्द्रजी और सीता दोनों के हृदय प्रेम से एक होगये थे, उनके लिये धन्वा क्या पहाड़ तक का तोड़ गिराना कुछ भी कठिन काम न था । उसी समय इन्होंने धनुष को तोड़ कर सीता की चित्ता को दूर कर दिया और राजा जनक ने आनन्द-पूर्वक श्रीरामचन्द्रजी के साथ उनका विवाह किया ।

इनकी विवाहित अवस्था का कमल अच्छी तरह से खिलने भी न पाया था कि इन पर दुःख का समुद्र उमड़ पड़ा और ये एक क्षण में राजकुमारी और राजकुमार से साधारण बनवासी हो गये । यह विपत्ति इनके हृदयों को तिल भर भी न हिला सकी और ये आनन्द के साथ घन जाने के लिये तैयार हो गये । घर पर रहने के लिये श्रीरामचन्द्रजी ने सीता को बहुत कुछ समझाया, परन्तु यह इस बात को कब मान सकती थीं, क्योंकि इनके प्राण उन्हों के शरीर में रहते थे और उनसे अलग होकर सीता का जीना तक कठिन हो जाता । उस समय

दन्होंने यारे, परन्तु प्रबल, शब्दों में अपने पति से यह कहा:—

“मातु पिता भगिनी प्रिय भाई ।
 प्रिय परिवार सुहृद समुदाई ॥
 सासु ससुर गुह सुजन सुहाई ।
 सुठि सुन्दर सुसील सुखदाई ॥
 जहँ लगि नाथ नेह अह नाते ।
 पिय बिनु तियहि तरनि तै ताते ॥
 तन धन धाम धरनि पुरराज् ।
 पति बिहीन सब सोक समाज् ॥
 भोग रोग सम भूपन भारु ।
 जमआतना सरिस संसारु ॥
 प्राननाथ तुम बिनु जग माहोँ ।
 मो कहँ सुखद कतहुँ कोड नाहोँ ॥
 जिय बिनु देह नदी बिनु जारी ।
 तइसिआ नाथ पुष्प बिनु नारी ॥

बन दुख नाथ कहेड बहुतेरे ।
 भय बिधाद परिताप धनेरे ॥
 प्रभुवियोग लघलेस समाना ।
 सब मिलि होहिँ न कुपा लिधाना ॥

अस जिय जानि सुजान सिरोमनि ।

लेह्य संग मोहि छाड़िय जानि ॥”

ये सरल और प्रभाष-शाली वचन सोने के अक्षरों में लिख कर सदा लियों के सामने रखें रहने के योग्य हैं । ये भारतवर्ष की ललनाथों के पवित्र आदर्श के बीज हैं । इनको स्मरण रख कर हमारी लियाँ अपने चरित्र को ऊंचा और उज्ज्वल बना सकती हैं ।

यह समझ कर कि कदाचित् श्रीरामचन्द्रजी यह सोचते हैं कि वन में पक्षी को साथ लेकर फिरना क्लेश मात्र हो जायगा, सीता ने इन शब्दों से उनकी सारी चित्ताधों को दूर कर दिया:—

“सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं ।

मारग जनित सकल स्वम हरिहौं ॥

पाँव पखारि बैठि तरु छाहीं ।

करिहूँ बाज मुदित भन माहीं ॥

समकन सहित स्याम तनु देखे ।

कहुँ दुख समउ प्रानपति पेखे ॥

सम महि तृन तरु पल्लव डासी ।

पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥

बार बार सुहु मूरति जाही ।

लागिहि ताति बयारि न मोही ॥”

सीता का प्रयोगन यह है कि बोझ होना दूर रहा, मैं किसी प्रकार के कष्ट को तुम्हारे पास तक न आने दूँगी और सदा

तुम्हारी सेवा करती रहूँगी । सीता ने इस संसार में जन्म लेकर खो-जाति को सचमुच प्रशंसनीय बना दिया है । इस पत्नी और पति के स्वर्गीय प्रेम में एक अनूठा आनन्द और निराली पवित्रता वर्तमान है, जो हृदय पर बिना प्रभाव डाले नहीं रहती है । अन्त में सीता की सच्ची प्रीति ने पति को अपने वश में कर लिया और तब—

“कहेउ कृपाल भानु-कुल-नाथा ।
परिहरि सोच चलहु बन साथा ॥
नहिँ विधाद कर अवसर आजू ।
बैगि करहु बन-गवन-समाजू ॥”

इसके बाद ये दोनों मय लक्ष्मण के बन को गये । इनके आपस में सच्ची सहानुभूति वर्तमान थी, इसलिये इनकी विषयित्ति का पर्वन कट कर ढुकड़े ढुकड़े हो गया ।

हमारे यहाँ की खियाँ को अपना सच्चा आदर्श कभी न भूलना चाहिए । यह यह है:—

“मानु-पिता-ध्राता-हितकारी ।
मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
अमितदानि भर्ता बैदेही ।
अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥

.....
खुड़ रोगबस जख़ धनहीना ।

अंध धधिर क्रोधी अतिदीना ॥

ऐसंहु पति कर किये अपमाना ।
 नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
 एकइ भरम एक ब्रत नेमा ।
 काय बचन मन पतिपद प्रेमा ॥”

इसी धर्म का पालन करके अल्पती और अनुसूया, सीता और सावित्री, शकुन्तला और दमयन्ती ने अपनी शिक्षा को सफल, अपने जीवन को पवित्र, अपने पति को सुखी और अपने घर को स्वगं बनाया था । इसी आदर्श को सामने रख कर हमारी खियाँ आज भी बहुत कुछ कर सकती हैं, परन्तु इसकी उपेक्षा करके, हमें भय है, वे अपने साथ ही देश की भी अव-नति करेंगी ।

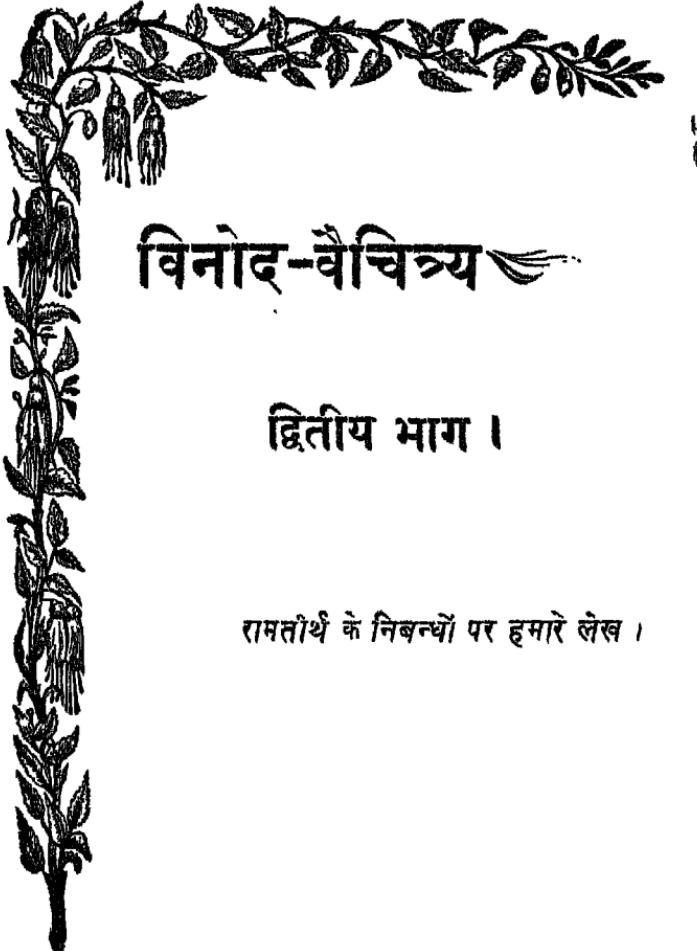
खियों को चाहिए कि शिक्षित होने पर वे अपने पुराने आदर्श पति-सेवा को और भी अधिक वैज्ञानिक और मनोहर बना दे । इससे हट कर स्वतन्त्र हो जाना न तो उन्हें शोभा देता है और न उन्हें कोई लाभ पहुँचावेगा । चाहे अपढ़ हो या पढ़ी, इस आदर्श का मानना सभी खियों की सब्दी उन्नति करेगा । इनको प्रश्नित ने वह शक्ति दी है जिससे ये नीच मनुष्य को ऊँचा, अपवित्र को पवित्र, और निन्दनीय को प्रशंसनीय बना सकती हैं, परन्तु इसका विकास तभी हो सकता है, जब ये अपने आदर्श को न बिगड़ने दे । और उसे दिनोंदिन अधिकतर उज्ज्वल बनाती रहें । सीता और अल्पती की जम्भूमि में स्काट् लोगों की रानी मेरी और क्लैपैट्रा के आदर्शी-

से कभी न काम चलेगा । हमारी लियों को जब लाभ होगा, तब अपने ही देश की उत्तम ललनाई के चरित्रों का अनुसरण करने से, वैसे सिवा नीचे गिरने के ग्रौर कुछ भी इनके हाथ नहीं आ सकता है । ग्रौर देशों में भी आदर्श लियाँ हो गयी हैं; उनकी अच्छी बातें ज़रूर सीखी जायें, इसमें रक्षी भर भी हानि नहीं है, परन्तु अपने उदाहरणों को छोड़ कर अविवेक के साथ दूसरों के पीछे दौड़ना निरी बे-समझी है ।

जाति में भेद होने से स्वभावों में भेद होना ज़रूरी है ग्रौर इस दशा में आदर्शों में भी अवश्यमेंब बड़ा अन्तर हो जायगा । इसी कारण से आदर्शों का बदल डालना प्रायः हानिकर होता है, क्योंकि दूसरों के उदाहरण जैसे के तेसे हमारे अनुकूल नहीं हों सकते हैं । आदर्श-विपर्यय ग्रौर आदर्श-मुधार में बड़ा भेद है—एहला अनुचित ग्रौर विवेक-शून्य है, तथा दूसरा उचित ग्रौर शिक्षा-जन्म । शिक्षित लियों के लिये अपने आदर्शों में उचित मुधार करना ग्रौर उन्हें भारतीय ढँग से बीसवीं शताब्दी के अनुरूप बनाना सब प्रकार से योग्य है, परन्तु अर्धे बन्द करके नोराप ग्रौर अमेरिका की घटकीली ग्रौर चमकीली तितुलियों के पीछे दौड़ना, अपने विचार, आचरण ग्रौर वेष को बिगाड़ देना, तथा इन्हीं बातों को अपनी शिक्षा का फल समझना किसी समय में भी समझ का काम नहीं है । जब हमारी लियाँ भारतीय लियाँ ही बनी रह कर उचित करें, तभी वह हमारी उच्छित होगी । जो लियाँ अविवाहित रह कर पवित्रता के साथ

अपना जीवन विताना चाहें थे आनन्द-पूर्वक उसे भरें, देश और परोपकार के कामों में लगावें, परन्तु विवाहित होने पर उन्हें अपना पुराना आदर्श कमी न भूलना चाहिए । व्यारी भारत-ललनाथो, स्मरण रखना कि अमृती, सीता, साधिनी, और दमयन्ती के समान उत्तम लियों से इस देश को भर देना तुम्हारे ही हाथ में है । यह काम तुम नवीन शिक्षा और प्राचीन आदर्श, उचित सुधार और विवेक-पूर्ण संशोधन से सहज ही में कर सकती हो । समय बीतने के पहले ही जगे, सचेत हो जाओ और भारतवर्ष की उन्नति के उपायों में हमारी सहायता करो ।





विनोद-वैचित्र्य

द्वितीय भाग ।

रामतीर्थ के निबन्धों पर हमारे लेख ।

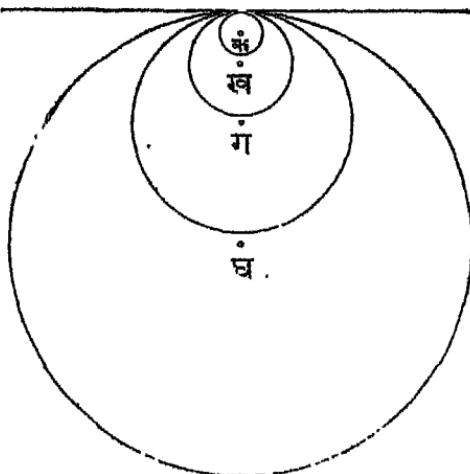


१—जीवात्मा का विस्तार ।*



हाँ पर हम एक परिलेख दे रहे हैं जिसमें चार वृत्त हैं। उनमें से सबसे छोटे वृत्त का केन्द्र “क” है, उससे बड़े वृत्त का केन्द्र “ख” है और ऐसे ही शीष दो वृत्तों के केन्द्र क्रमशः “ग” और “घ” हैं। “अ हूँ” सब वृत्तों की स्पर्श-रेखा है।

अ ————— हूँ



हम एक ऐसा भी बहुत बड़ा वृत्त खोंच सकते हैं जिसकी परिधि का काम स्पर्श-रेखा “अ हूँ” देवे। इस परिलेख का प्रत्येक अन्तर्गत १६०५। असुदित। पुनर्जीवित और कुछ विस्तृत।

ब्रृत्त जीवात्मा की भिन्न भिन्न दशाओं का बोधक है। बहुत ही संकरी दशा में हमारा जीवात्मा सब से छोटे ब्रृत्त के समान होता है, तथा उन्नति करते हुए और अन्य त्रृत्तों की समानता को पाते हुए यह अन्त में उस विस्तृत दशा बो पहुँच जाता है जिसका निरूपक “अ है” स्पर्श-रेखा की परिधिवाला ब्रृत्त है। सीधी रेखा की परिधि से यह प्रयोजन है कि इस अवस्था में मनुष्य इतना उदारचरित होता है कि उसके दोनों हाथ बिल-कुल सीधे फैल जाते हैं और वह सारे संसार को अपना ही कुदुम्ब जान कर उसे अपने गले लगाने के तैयार रहता है—वह किसी को भी अपनी कुहनियों से नहीं हटाता और मारता है। कभ उन्नत दशाओं में मनुष्यों के दोनों हाथ बिलकुल सीधे नहीं, बरन गोलाकार या छोटे ब्रृत्तों के समान होते हैं; प्रयोजन यह है कि इनको अपनी ही सूक्ष्मता है, इसलिये ये उन्हें जो इनके अनुकूल या इनके पक्ष में नहीं हैं, कुहनियों से मार कर हटा देने में तत्पर रहते हैं।

प्रकृति का नियम है कि वह सभी समय अपने उन्हीं कामों को देहराया करती है। नं जाने के बार सत्ययुग, च्रेता, द्वापर और कलियुग, तथा उनमें थीरामचन्द्रजी और श्रीकृष्ण-चन्द्रजी के अवतार हो चुके हैं। हर साल गर्मी, बरसात और सर्दी ये तीन मुख्य कष्ट होती हैं, ऐसे ही प्रति दिन भी ये तीनों जीतती हैं—प्रातःकाल शीत, मध्याह्न ग्रीष्म और सायंकाल घर्षा की शोभा दिखाता है। जिस प्रकार से जीवात्मा जौरासी

लक्ष योनियों में भ्रम कर सब के बाद मनुष्य-शरीर पाता है, वैसे ही गर्भशाल से पता लगा है कि गर्भाशय के नौ महीनों में यह प्रायः सभी मुख्य मुख्य जीव-जन्मथ्रों के रूप धारण करके अन्त में अपने माता और पिता के समान शरीर पाता और उत्पन्न होता है । ठीक इसी प्राकृतिक नियम के अनुकूल हमारा जीवात्मा मनुष्य शरीर पाकर भी अपनी संकीर्णता या उदारता के क्रम से कई एक भिन्न भिन्न काटियों में अपना जीवन व्यतीत करता है । जिस प्रकार से जड़ और चेतन, एवं उनमें प्रथम में खनिज और उद्घिज्ज, तथा दूसरे में पशु, मनुष्य, और परमात्मा ये भेद, हैं, वैसे ही हम लोगों में भी अनेक विभाग वर्तमान हैं:—

१—खनिज-मनुष्य = वृत्त “क” = असनी मनुष्य ।

२—उद्घिज्ज-मनुष्य = वृत्त “ख” = गृहस्थ मनुष्य ।

३—पशु-मनुष्य = वृत्त “ग” = जाति-भक्त मनुष्य ।

४—मनुष्य-मनुष्य = वृत्त “घ” = देश-भक्त मनुष्य ।

५—परमेश्वर-मनुष्य = वृत्त “अ है” (परिधिवाला) =
पूर्ण-ज्ञानी मनुष्य ।

६—व्यसनी मनुष्य ।

इस पुरुष की समता खनिज-पदार्थों से की गयी है, क्योंकि उनसे उसी मनुष्य को लाभ हो सकता है जिसके पास वे वर्तमान हों। हीरा या लाल, सोना या चाँदी उसी मनुष्य का

उपकार करते हैं जो उनका स्वामी है, मौर लोग उनसे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते हैं । ठीक यही दशा व्यसनी मनुष्य की है, यह सिवा अपने शरीर के सुख के किसी दूसरे की परवा नहीं करता है । यह अत्यन्त संकीर्ण जीवात्मा सदा यही समझता है कि मैं केवल उतना ही हूँ जितना कि अपने इस शरीर—सिर और पैरों—के बीच मैं हूँ । इसके सिवा और जितने पुरुष हैं उनसे मेरा कोई सरोकार नहीं है, चाहे उन्हें सुख हो या दुःख हो । अपने शरीर को पालने के लिये और मनुष्यों या पशुओं को कष्ट देने और उनके प्राणों तक को हर लेने में इसे रक्ती भर संकोच नहीं होता है । एक और विष्यान रोम नगर जल रहा था, दूसरी ओर वहाँ का महाराजा नीरो अपने महल के तिमंजिले पर चढ़कर अपनी धंशी को बजाता थैर “जलने के आनन्द” को देखता रहा । इस प्रकार के मनुष्य खनिज नहीं तो थैर क्या हैं ?

२—गृहस्थ मनुष्य ।

यह जीवात्मा, कुछ विस्तृत होने पर, अपने शरीर के विद्या अपनी माता पैर पिता, पत्नी और पुत्र को भी अपना ही समझता है । इसे जितनी ममता अपनी देह के लिये होती है उतनी ही अपने कुटुम्ब के लिये भी होती है । इसके लिये कुटुम्ब का सुख अपना सुख, उसका दुःख अपना दुःख, उसकी उत्तिअपनी उत्तिथा और उसकी अवनति अपनी ही अवनति है ।

ऐसे मनुष्य की उपमा पौधों से दी गयी है, कारण कि ये भी अपने सिवा कुछ और लोगों को लाभ पहुँचाते हैं। गृहस्थ-मनुष्य अपनी श्रौत अपने कुदुम्ब की रक्षा और पालन के लिये अपना पसीना गिराता, बेचैन रहता, और परिश्रम करता है। इसे अपने स्नेहियों के लिये दूसरों को हानि पहुँचाने में संशय नहीं होता है, कारण कि जिन्हें यह अपनी आत्मा मानता है केवल वे ही इसके आत्मीय हैं। शेष संसार से तथा इससे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता है।

३—जातिभक्त मनुष्य ।

कुछ और उन्नत होने के उपरान्त यह जीवात्मा, केवल अपने शरीर और कुदुम्ब ही को नहीं, बरन अपनी जाति के सब मनुष्यों को अपना ही समझता है। यदि इसकी जाति के सिवा और जातियाँ भी देश में हुईं तो यह उनसे बहुत कम सम्पर्क रखता है। कभी कभी यह उन्हें नीचा तक दिखा कर अपनी जाति को उन्नत बनाने का यज्ञ करता है। यह पशु के समान अधिकतर मनुष्यों को लाभ पहुँचाता है।

४—देशभक्त मनुष्य ।

इसके लिये सारा देश ही अपनी दैह है, मनुष्य का आस्तिक भाव यही होता चाहिए, इसी कारण से इसकी तुलना मनुष्य-रूपी मनुष्य से की गयी है। इसमें केवल इतनी

संकीर्णता वर्तमान रहती है कि यह दूसरे देशों के हिताहित से विशेष प्रयोगन नहीं रखता और सदा अगले ही देश की उद्धानी की खुब में लगा रहता है। अपने देश की कुछ भी राजि होते हुए देशकर इसे यह जान पड़ता है कि मानों में ही हृदय पर चेष्टा लगी है। यह सदा यही प्रयत्न करता है कि मेरा ही देश सारी प्रतिष्ठा, व्यापार, शिल्प, विद्या और गौरव का एक-मात्र केन्द्र होकर संसार के सब देशों का सिरनाज खने। इसी उद्देश्य को हृदय पर लिख कर यह अपने रक्त तक को बहाने में नहीं सकुचना है।

प्रायः विवेक-शून्य देशभक्त कलह और विष्णुवें के कारण होते हैं। ये लाभ के बदले हानि ही विशेष रूप से करते हैं, इस कारण से इनकी लिन्दा होती है। विचारशील देशहितीपी मनुष्य अपने देश को सब प्रकार सं लाभ पहुँचाते, विचारों और विष्णुवें को दबाते, देश को उत्तम रूप से उज्ज्ञाति के मार्ग पर चलाते, और उसकं सच्चै सेवक बन कर अपने जीवन की उपयोगिता को प्रमाणित करते हैं। सारण रखिए कि मनुष्य हाँकर यही पहली कोटि है जिसमें वह अपना सच्चा कर्तव्य पालन करता है और मनुष्य कहे जाने के योग्य होता है। दूसरी दशाओं में वह खलेज, पैदा थेर पशु-मात्र है। सच्चा और विचारशील देशभक्त बनना ही अपने जीवन को मनुष्यत्व से पूर्ण करना और उसे सफल बनाना है।

५—ज्ञानी मनुष्य ।

सबसे अधिक उच्चत और विस्तृत दशा को पहुँच कर जीवात्मा वास्तव में परमात्मा के तुल्य हो जाता है। इसके लिये सारा संसार अपना ही शरीर है। यह किसी से बैर-भाव नहीं रखता है, सभी इसके मित्र हैं और यह सबका मित्र है। किसी भी देश से इसका विरोध नहीं होता है। यह सभी देशों—सारे संसार और सारी प्रकृति—का अपना देश, अपना शरीर, और अपना जीव मानता है। यदि यह किसी भी वृक्ष, पशु या मनुष्य को कष्ट होते हुए देखता है, तो इससे नहीं रहा जाता है और यह तुरन्त ही उसका कलेश दूर करने के लिये यज्ञ करता है। यह सभी को सुखी देखने की इच्छा रखता और स्वयमेष प्रसन्न रहता है। ऐसा मनुष्य सब कुछ कर सकता है। इसके सामर्थ्य के बाहर कोई भी काम नहीं है।

अमेरिका की संयुक्त राज्यों का अध्यक्ष अब्राहम लिड्डन पक बार घोड़े पर सवार होकर देश की शासन-सभा को जा रहा था। रास्ते में इसने कीचड़ में फँसे हुए एक सुवर को देखा, जो यज्ञ करने पर भी उससे बाहर नहीं निकल पाता था। थोड़ी देर तक यह इस हृदय को देखता रहा, परन्तु जब हजार यज्ञ करने पर भी वह अपने को उस तुङ्ग से न छुड़ा सका, तब इससे न रहा गया। इसने तुरन्त ही घोड़े से उतर कर उस सुवर को कीचड़ से बाहर निकाला और उसके बाद फिर

सबार होकर यह शासन-सभा को गया ! वे मनुष्य धार्य हैं जो सभी के दुःखों के साथ व्यावहारिक सहानुभूति करने को तैयार रहते हैं । सारे संसार को अपनी ही आत्मा माननेवाले मनुष्य केवल अपने ही देश की नहीं, बरन सब देशों की उन्नति के साधक होते हैं ।

इंगलैंड, जर्मनी, अमेरिका और जापान को इस उन्नत अवस्था में देख कर हमें कुछ भी आश्चर्य न करना चाहिए । उनकी वर्तमान समृद्धि के कारण केवल ये ही परमात्मा-तुल्य मनुष्य हैं । जिस देश में इनकी संख्या जितनी अधिक होती है वह उतना ही प्रतापी और तेजस्वी होता है । जब हमारे देश में इस प्रकार के ड्जारों मनुष्य थे, तब हम सारे संभार को अपने चपत्कार से चमत्कृत करते थे, परन्तु इस समय यह इनकी संख्या बहुत कम होगयी है, इसी कारण से हमारी दशा दिनों-दिन शोचनीय होती जाती है । हमें चाहिए कि हम स्वयं उदारचरित बन कर तथा दूसरों को भी पेसा ही बना कर अपने देश में इस प्रकार के मनुष्यों की संख्या को बढ़ावें और इनकी सहायता से फिर शीघ्र ही अपनी जन्मभूमि को तेजस्वी और गौरव-पूर्ण बना दें ।

२—सफलता के रहस्य ।*

पहला रहस्य—काम में लीन हो जाना ।

मनुष्य को अपना जीवन सफल बनाने के लिये उपर्युक्त योगी कामों में तत्पर रहना चाहिए । समय को बुधा नष्ट न होने देना बुद्धिमानी का काम है । उद्योग करना अनायास ही सफलता को मनुष्यकी ओर खींच लाता है । अस्तित्व के धर्मान्तर होड़ में जो देश या जो मनुष्य यज्ञ-शील न रहेगा उसके लिये कोई भी आशा नहीं है । वह निस्सनदेह किसी न किसी दिन दूसरी प्रभाव-शाली जातियों या मनुष्यों के द्वारा पैरों के नीचे कुचला जाकर नाश को प्राप्त हो जायगा । इस भयङ्कर विपत्ति से बचने के लिये मनुष्य को चाहिए कि वह उचित रूप से काम में लग कर केवल अपने ही को नहीं, बरन अपने देश को भी उद्धत और प्रतापी बनाये ।

किसी काम में सफल होने के लिये प्रत्येक मनुष्य को उसमें लीन हो जाना चाहिए—उसमें अपने चित्त को इस ढँग से पूर्णतया निमझ कर देना चाहिए कि अपनी सत्ता का कुछ भी ध्यान

* दिसम्बर १९०५ । अमुद्रित । पुनर्लिखित एवं विस्तृत । ग्राथः स्वतन्त्र ।

न रहे । यदि सब पूछिए, तो यह तल्लीनता ही वास्तविक विश्राम है । यही हमारे आराम करने का समय है । सच्चे हृदय से काम में द्वंब जानेवाला मनुष्य औरों की हृषि में भले ही परिश्रम से व्याकुल जान पड़े, परन्तु वह वास्तव में कुछ नहीं कर रहा है, कारण कि काम में लीन होकर वह अपनी आत्मा ही को भूल गया है । जिस प्रकार से देखनेवालों को, सचमुच किसी रंग के न होते हुए भी, इन्द्रधनुष में सात रंग प्रतीत होते हैं, ठीक वैसे ही अपने काम में लीन मनुष्य विश्राम कर रहा है—वह अपने काम के रंगों से न्यारा ही है । पूर्ण-रूप से सफल होने के लिये प्रत्येक मनुष्य को अपने कामों में इस तरह से लगाना चाहिए कि उसका यह भाव कि “यह काम मैं कर रहा हूँ” बिलकुल जाता रहे । अहंभाव को मिटा देना—काम की आत्मा और अपनी आत्मा के भेद को दूर कर देना—ही हमें सफल बना सकता है ।

जब तक कोई मनुष्य अपने काम में अपने को बिलकुल भूल जाता है, तब तक उसका मनोग्रोग उसके काम को पवित्र करता और उसे उत्कृष्ट बनाता है । बहुधा लीन हो जानेवाला मनुष्य ही आशातीत सफलता पाता है । वह अपने ही किये हुए काम को देख कर कर्मा कर्गी आश्वर्य से कह उठता है कि मैं अपनी साधारण योग्यता से इस काम को किस प्रकार से ऐसे उत्तम रूप में कर सका, परन्तु वास्तव में यह उसके काम में द्वंब जाने—उसके “अहंकार” का सर्वथा मिटा देने—का फल है

कि वह अपनी आशा और योग्यता से भी बढ़ कर सफलता पा सका । थोड़ी देर तक किसी काम में अपने को भूल कर ज्योंही आपके चित्त में यह ध्यान आयेगा कि “आहा ! देखो मैं इस काम को कैसी उत्तमता से कर रहा हूँ”, त्योंही, निश्चय रखिए, काम बिगड़ने लगेगा और पहिलेवाली सफलता काफ़ूर हो जायगी ।

मनुष्य की उपयोगिता और प्रभाव-शालिता उसके काम में लीन होने की शक्ति पर निर्भर है । जब कोई पुरुष अपने अध्य-वस्ताय में लग कर अपनी सत्ता को भूल जाता है और उसकी आत्मा अपने काम के साथ एक लय में हो जाती है, तभी सुचतुर प्रकृति देवी, मनुष्य-शरीर-रूपी वीणा को लेकर और उसके हृदयरूपी तार पर अपना हाथ फेर कर, नाना प्रकार के मधुर स्वरों का आलाप आरम्भ करती है, तभी लोग कहते हैं कि अमुक मनुष्य उत्साहित हो गया है, तभी वह अपनी आशा और योग्यता से भी अधिक सफलता प्राप्त करता है, और तभी वह अपने साथियों को इस उच्चति की दैड़ में सेकड़ों मील पीछे छाड़कर स्वयमेव असाधारण दशा को पहुँचता और संसार की आँखों में चकाचौंध पैदा करता है । सफलता के लिये हमें अपने “आहंकार” को या “मैं कर रहा हूँ” इस भाव को कार्य की आग में भरप कर देना चाहिए । यह भाव बिना आत्मसंयम के या चित्तवृत्ति के एकाग्र रखने का स्वभाव डाले नहीं दूर हो सकता है, इस कारण से लीन होने के

लिये हमें आत्मसंयमी बनना चाहिए, और अपने मन को अपने वश में रखना चाहिए ।

कभी सामान्य मनुष्य सहज ही में चमकार कर दिखाता है और कभी कभी योग्य मनुष्य साधारण से भी साधारण काम को उत्तमता के साथ नहीं कर पाता है। किसी समय हम कठिन काम को चुटकी बजाते ही समाप्त कर देते हैं और कभी सहज काम को भी करते हुए दाँत खड़े हो जाते हैं। जब एक ही मनुष्य अपनी उसी योग्यता से अनेक कामों में अनेक प्रकार के फल पाता है, तब यह प्रश्न अवश्यमेव उठता है कि वह कौन सा कारण है जो हमें इस ढंग से प्रोत्साहित या निष्ठत्साहित करता है। अनुसन्धान करने से यह स्पष्ट जान पड़ेगा कि हमारी चित्तवृत्ति की अनुकूलता या प्रतिकूलता ही इस विचित्रता की जड़ है। जब मनुष्य में अहंकार की मात्रा ज्यादा होती है, तब बहुत कुछ परिश्रम करने पर भी चित्त उचड़ा रहता है और जैसा चाहिए वैसा काम नहीं होता है; तथा जब हम काम में लीन हो जाते हैं, तब प्रकृति भी हमारा साथ देकर हमारे हृदय को उत्साह-पूर्ण, यत्न को आशा-पूर्ण और काम को सफलता-पूर्ण बनाती है। जिसने अपने काम में भली भाँति संलग्न होना सीख लिया है वह सदा उत्तमता-पूर्वक काम करेगा और उसे दूसरों की अपेक्षा अधिक सफलता मिलेगी।

ज्योंही काम करते समय नाम पैदा करने का या अपना प्रशंसा का रत्नी भर भी विचार आयेगा, निद्रचय जानिए स्योंही

सारा मनोयोग तहस-नहस होजायगा । विना आत्म-संयम के न तो आप अपने चित्त को रोक सकते थे और न उसे एकाग्र कर सकते हैं । हमें सब प्रकार से मन को अपने अधिकार में रखकर कामों में अपने को भूल जाना चाहिए । नाम पाने की इच्छा जितनी ही ज्यादा होगी उतना ही ज्यादा, काम बिगड़ जायगा । काम का प्रारम्भ कर देने पर सब समय उसके भले या बुरे परिणाम के भय के पतथर को अपने हृदय पर रखके रहने की ज़रूरत नहीं है । ऐसा करने से भी वह ख़राब हो जाता है । किसी काम को करते समय अपने चित्त को पूरे तौर से निश्चिन्त, एकाग्र और तदलीन रखना चाहिए, तथा अपने हृदय को सर्वथा आल्हादित, आशायुक और उत्साहित बनाना चाहिए । ऐसी दशा में वह काम निस्सन्देह उत्तमता-पूर्वक होगा और उसमें पूरी पूरी सफलता मिलेगी । मनोयोग के समय अपने शरीर को गतिशाला * और चित्त को स्थितिशाला[†] के नियमों के अनुकूल रखना चाहिए ।

दूसरा रहस्य—निष्काम परिश्रम ।

एक समय तालाब ने एक बहती हुई स्वच्छ नदी से कहा—“तू बड़ी मूर्ख है । तू व्यर्थ ही अपना सब पानी बहा कर समुद्र में कैंक रही है । तू कितना ही पानी उसे देगी, तथापि वह खारी का खारी ही बना रहेगा और तेरा उपकार भी न मानेगा, कारण

* Laws of Dynamics † Laws of Statics.

कि उसके लिये तेरा दिया हुआ थोड़ा सा जल कोई चीज़ नहीं है । तुझे अपना जल अपने पास ही रखना चाहिए ।” यहाँ पर तालाब ने अपने ही समान स्वार्थी बनने की शिक्षा नदी को भी दी है, परन्तु वह कब इस उपदेश को मान सकती थी । उसने तालाब को तुरन्त ही यह मुँहतोड़ उत्तर दिया—“अरे तालाब, जा, और इस थोड़ी सलाह से तेरा ही भला हो । मैं इस प्रकार की नीचता और स्वार्थ की बातों में कभी नहीं पड़ती हूँ । तेरा स्वार्थ ही तेरे जल को गँदला कर देता है और कभी कभी तुझे सुखा देता है । गँदला हो जाने पर तेरा पानी नाना प्रकार के रेणों को फैलाता है और तब न जानें कितने प्राणों की हत्या तेरे सिर पर पड़ती है । उस समय दुर्गम्य के कारण तेरे पास तक कोई नहीं आता है । रही मैं सुझे इस बात से प्रयोजन नहीं कि मेरा पानी कहाँ जाता या उससे क्या लाभ होता है । मुझे निस्स्वार्थ होकर पानी को बहाते रहने से काम है, इसीसे मैं सदा स्वच्छ, तेजस्वी और प्रबल रहती हूँ । मैं न जाने कब से ऐसे ही बहती हुई चली आती हूँ, और अनन्त काल तक ऐसे ही बहती रहूँगी । मेरे पास अतुल जल की ऐसी पूँजी है जो सदा बढ़ती रहती है, कारण कि मैं स्वार्थी नहीं हूँ और उसे बहाती रहती हूँ । मैं अपने काम में—जल को बहाते रहने में—निरन्तर लगी रहती हूँ और लगी रहूँगी; उसके फल से मुझे प्रयोजन नहीं है । बहते रहना मेरा कर्तव्य है और मैं उसे अपने हृदय से पाल रही हूँ । ‘मेरा अधिकार

काम करने ही पर है, उसके फलों पर कदापि नहीं । मुझे अपने काम के फलों से प्रयोजन नहीं है और न मैं चुपचाप बैठना चाहती हूँ ।”* यह सुनकर तालाब बहुत लजित हुआ और फिर उसे कुछ भी बोलने का साहस न हुआ ।

फल की आशा न करना—निष्काम रहना—ही वास्तव में हमारी सफलता की मात्रा को बढ़ाता है । जब मन लगा कर काम किया जायगा, तब इसमें सन्देह नहीं कि उत्तम फल मिलेगा, परन्तु कामनासहित परिश्रम करने ही अपना मन उस काम में लीन न होकर अधिकतर फल की ओर छुक पड़ता है और जहाँ उसे पूर्णतया संलग्न होना चाहिए वहाँ पर उसका अंश बहुत कम रह जाता है, इससे काम के साथ ही सफलता भी नाश को प्राप्त हो जाती है । ज्योंही फल पाने का स्वार्थ मनुष्य के चित्त में प्रवेश करता है, उसी क्षण वह उसे उत्तमता के साथ नहीं कर पाता है, कारण कि तालाब के जल के समान उसका अध्यवसाय और उत्साह गँदला हो जाता है, और उसमें निःस्वार्थ के साथ निरन्तर बहती हुई नदी की सफाई और चमक कभी नहीं दिखायी देती है । काम के प्रेमी बन कर, उसमें अपने को खोकर, उसमें लीन होकर, और उसके फल से बहुत

* “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलवैतुर्भुर्मा ते संगोम्बकर्मणि ॥”
(भगवद् गीता)

अधिक लालायित न होकर हमें अपने प्रत्येक छाटे और बड़े
यहाँ में प्रवृत्त होना चाहिए ।

सब समय परिणाम ही के विचार से अपने चित्त को आकुल
रखना चुदिमानी नहीं है । यह कभी न मन में लाना चाहिए
कि कोई पुरुष हमारे अभ्यवसाय की प्रशंसा या निन्दा कर रहा
है । फल चाहे भला हो या बुरा, एकाग्र-चित्त होकर उपयोगी
कामों में तत्पर रहना हमारा धर्म है । सच पूछिएं तो मन लगा
कर किया हुआ काम निश्चय के साथ उत्तम फल देगा । यह
सदा ध्यान रखिए कि तुच्छ इच्छाएँ और वर्य आशाएँ हमारी
उच्छति और सफलता के प्रतिबन्धक मात्र हैं । लीन हो जाने से
काम में सफलता मिलती है और मनुष्य को हार्दिक सन्तोष तथा
अनिर्वचनीय आनन्द होता है; कोई भी पारिताष्ठिक इस सन्तोष
और आनन्द की समता नहीं कर सकता है । “पहले पहल परि-
श्रम करके हमें अभीष्ट फल पाने की पात्रता या योग्यता प्राप्त
करनी चाहिए और तब उसके लिये अभिलाष करनी चाहिए ।”*
यदि हमसे पूछिए, तो हम यह कहेंगे कि योग्यता अवश्य सम्पा-
दित कीजिए, परन्तु फल पाने की इच्छा कैसी? जब आप में
पात्रता वर्तमान है, तब उससे उत्पन्न फल स्वयमेव आपके पास
दौड़ता हुआ आयेगा, आप चाहे उसकी इच्छा करें या न करें ।
इस दशा में यदि आप सफलता और उच्छति से दूर भागि-
एगा, तो भी ये आपका पीछा न छोड़ेंगी । यदि आप में योग्यता,

* “First deserve and then desire.”

का दीपक जल रहा है, तो फलस्थी पतंगे और कीड़े अपने आप उड़ उड़ कर आप पर गिरेंगे । जहाँ साफ़ और मीठा जल बह रहा है वहाँ हजारों मनुष्य अपने आप ही अपनी प्यास बुझाने के लिये दौड़ेंगे ।

अपने अहंभाव—इस भाव को कि “मैं हूँ”, “मैं कर रहा हूँ” इत्यादि—को निष्काम-परिश्रमस्थी शूली पर चढ़ा दीजिए, और देखिए कि फिर कैसी उत्तम सफलता मिलती है । भक्त-शिरो-मणि प्रह्लाद को उनके साथी एक साधारण बालक माझ समझते थे, परन्तु जब उन्होंने अपने को भुला दिया, अपनी सच्चा को श्रीरामचन्द्रजी की विशद आत्मा में निमग्न कर दिया और परमानन्द के तेज में अपने शरीर को स्वाहा कर दिया, तब हाथी उन्हें न कुचल सका, चिप उन्हें न मार सका और तलवार उनका गला न काट सकी । वह निष्काम थे, और उनमें अहंभाव का अभाव ही गया था, इसी कारण से उनमें यह अलौकिक बल आ गया और उन्होंने अपने तेज से सभी को आश्रम्य में डाल दिया ।

फल का स्याग ही हमें सफल और तेजस्वी बना सकता है । इसी में वह शक्ति है जो हमें उत्तम और प्रतापी बना सकती है । जब आप कोई सफेद रंग की चीज़ देखते हैं, तब कभी आपने यह भी विचार किया है कि कौन सा गुण उस वस्तु को यह रंग देता है । आपको सुन कर आश्रम्य होगा कि निष्कामता और स्याग ही उसे सफेद बना रहा है । सूर्य की किरणों

से सातों रंग नाना प्रकार की वस्तुओं में संकान्त होते हैं । इन में से जो पदार्थ जिस रंग की किरण को अपने में नहीं खीँच लेता है और त्याग देता है उसका वही रंग हो जाता है । इसी प्रकार से जो चीज़ सात रंगों की किरणों में से किसी को भी अपने में नहीं संकान्त करती है, वरन् सभी का त्याग कर देती है, उसी का वर्ण इसके प्रताप से चन्द्रमा की ज्योलिता के समान इवेत होता है । ऐसे ही जो चीजें कुछ भी नहीं त्यागती हैं, वरन् सभी किरणों को अपने में खीँच लेती हैं, उन्हीं का सारा शरीर काला हो जाता है । यदि आपको अपने कामों में सफल, यज्ञों में उन्नत और संसार में तेजस्वी बनना है, तो त्याग और निष्कामता सीखिए, नहीं तो सभी कुछ ग्रास करने का उद्योग करते ही सिवा कालेपन के और कुछ भी हाथ न लगेगा ।

सदा स्मरण रखिए कि यदि आप किसी कल या पदार्थ के पीछे,—उसे पाने के लिये, दैड़िणगा, तो वह आगे ही आगे भागता जायगा और आपको न एकड़ मिलेगा, परन्तु उसकी ओर पीठ फेर दीजिए और तब देखिए वह स्वयमेव आपके पीछे दैड़ेगा । प्रातःकाल के समय धूप में अपनी छाया को एकछुने का यज्ञ कीजिए, वह कदापि न मिलेगी । जितना ही ज्यादा आप उसके पीछे दैड़िणगा उतना ही वह आपके आगे भागती जायगी, परन्तु एक बार आप उसकी ओर पीठ फेर दीजिए, उसे त्याग दीजिए, और उससे विमुख हो जाइए, तब वही छाया अपने आप ही आपके पीछे दैड़ेगी और आपको एकछुने का

यत्करेगी । यदि उस समय आप भाग कर उससे पीछा छुड़ाइएगा, तो भी वह आपका पछ्ना न छोड़ेगी । ठीक यही दशा प्रताप, गौरव, सैमान्य और उत्कर्ष की है । पूरे मनोयोग के साथ परिश्रम कीजिए और इनकी ओर से निष्काम रहिए, तब ये सबके सब आपके पीछे ढौड़ेंगे ।

तीसरा रहस्य—प्रेम ।

इस छोटे से शब्द में अतुल बल भरा हुआ है । यिन प्रेम के हमारे सब काम, हमारी सब आशाएँ, और हमारे सब यत्कर्ता, यहाँ तक कि हमारा सब जीवन, नीरस और निरपेयागी हैं । यह प्रेम ही नक्षत्रों को नवीनता, वृक्षों को विचित्रता, पुष्पों को प्रफुल्लता, संगीत को सरसता, खियों को सुन्दरता, और पुरुषों को प्रकृष्टता देता है । यही पृथ्वी, आकाश और पाताल में साम्राज्य कर रहा है । यही अपने तेज से सारे संसार का एक नियम में बांधे हुए है ।

किसी से प्रीति के साथ व्यवहार करते समय यह न समझना कि वह और है तथा मैं और हूँ, दूसरे की आत्मा मैं अपनी आत्मा को ऐसा निमश्च कर देना कि कुछ भी भेद न रहे, अथवा सबके साथ मैं अपनी आत्मा को एक कर देना ही प्रेम है । जहाँ पर पवित्रता, विश्वास और अभेद है, वहाँ पर प्रेम है । रक्ती भर भी भेद के होते ही—थोड़े से भी अल्पर के आते ही—प्रेम हजारों कोस दूर भाग जाता है । माता और पिता, भाई और

बहिन, बेटा और बेटी, नाती और पोता, स्वजातीय और सम्बन्धी, तथा अड़ेसी और पड़ेसी सभी से पेक्ष्य-भाव रखना प्रेम का उन्नत बनाने के लिये पहला यज्ञ है। इसी प्रकार से क्रमशः हृदय की उदारता बढ़ती है और अन्त में मनुष्य मिथ्र और शत्रु, देश और विदेश किसी में भी मेद नहीं मानता है; उसके लिये सब उसी के हैं और वह सबका है। उसके लिये “यह अपना है, वह पराया है, यह केवल संकीर्ण हृदयधालों का विचार है, कारण कि उदार-चरित मनुष्यों के लिये सारा संसार ही उनका कुटुम्ब है।”*

इस प्रकार के मनुष्यों के लिये सफलता पाना जायें हाथ का खेल है। इनका न तो कोई शत्रु है, जो इनके कामों में अड़चन लगाये, और न कोई दूसरा ही प्रतिबन्धक हो सकता है, क्योंकि प्रकृति तक इनका साथ देने को तैयार रहती है। प्रेम-पूर्ण हृदय प्रायः निष्काम मनोवृत्ति ही के साथ में रहता है। इस दशा में मनुष्य जो काम करेगा उसी में उसे पूरी सफलता मिलेगी। बिना प्रेम के द्वारा पवित्र हुए हमारा परिध्रम कल्पित रहता है। पूरी सफलता पाने के लिये हमें अपने हृदय को प्रेम से सरस तथा यत्कों को उससे पवित्र बना देना चाहिए।

* “अथं निजः परो वेति गणना लघुचेतसम् ।

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥”

चौथा रहस्य—प्रसन्नता ।

विना चिन्ताओं और दुःखों से छूटे हुए हम प्रायः किसी भी काम में सफल नहीं होते हैं। दुःख और चिन्ता से बढ़ कर हमारे लिये कोई भी हानिकर वस्तु नहीं है। ये हमारी उन्नति के पूरे प्रतिबन्धक हैं। जब तक हम अपनी मनोवृत्ति को इन दोनों व्याधियों से न अलग रखेंगे, तब तक हमारे लिये कोई आशा नहीं है। जिस मनुष्य ने सदा प्रसन्न रहने का स्वभाव सीख लिया है उसके लिये सफलता सुलभ हो जाती है।

हमें चाहिए कि हम अपनी बुद्धि को स्थिर रखें और सुख या दुःख से उसे विचलित न होने दें। यह स्मरण रखिए कि पानी के समान ये भी अपना तल* बराबर रखते हैं। जितनी ज्यादा ऊँचाई से आप पानी को गिराइएगा उतनी ही ऊँचाई तक वह फौंडारे में फिर ऊपर को उठेगा, इसी प्रकार से आप सुख पाकर जितना ज्यादा आनन्द से प्रफुल्लित हो जाइएगा उतना ही ज्यादा आपको दुःख पाकर शोक से दबना पड़ेगा। यदि आपने यह सीख लिया है कि चाहे कितना बड़ा दुःख हो, परन्तु उसे पा कर हम शान्त और प्रसन्नचित्त रहेंगे, तो संसार में किसी में भी—परमात्मा तक में—यह शक्ति नहीं है कि वह आप का उत्साह तोड़ सके। दृढ़ चित्त मनुष्य से भगवान् तक हार गये हैं। “वही पुरुष स्थिरबुद्धि है जो दुःखों से बहुत

व्याकुल न हो जावे, सुखों के लिये अपने मन को बहुत न चलावे। और जो आसन्नि, भय और क्रोध इन सबों से अपने को अलग रखें—अपने ऊपर इन तीनों का प्रभाव न जमने दे।”* इस प्रकार का ही मनुष्य सदा प्रसन्न-चित्त रह सकता है और तभी वह सफल होकर उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ सकेगा।

जब हम में ममता की मात्रा बहुत बढ़ जाती है, हम प्रत्येक बात में “यह मेरा है” और “यह तेरा है” इस भाव को अपरिमित रूप से मानते हैं और अपनी मनोवृत्ति को तुच्छ विचारों से नीच बना देते हैं, तभी हम आकुलता, क्लेश और दुःख का आलेट होते और अपने जीवन को नीरस, निस्तार और निरूप-थागी बना देते हैं। हमें चाहिए कि हम अपनी मनोवृत्ति को ऊँची, विचारों को विवेक-पूर्ण और अभिलाषों को पवित्र बनावें, तब हमें सदा प्रसन्न-चित्त बने रहने में विशेष अड़चन न होगी। ममता और तुच्छता के साथ सुख में या स्नेह में लिप्त होने पर योंही कोई प्राणी या पदार्थ किसी कारण से हम से अलग हो जाता है, योंही हमारे दुःख और व्याकुलता की सीमा नहीं रहती है। इन दोषों से हमें सदा बचना चाहिए। जब प्रसन्न-चित्त रहने का स्वभाव पड़ जाता है, तब दुःख

* “दुःखेष्वनुद्विष्मनाः सुखेषु विगतस्त्वहः ।
वीतशागभयक्रोधः स्थितधीर्मुर्निरुच्यते ॥”

और व्याकुलता पहिले तो भय से पास तक नहीं आते हैं, और यदि आये भी, तो उनमें बल नहीं रहता है। इस प्रकार से वे हम पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। “प्रसन्नता के समय अपने आप ही सब दुःखों का नाश हो जाता है और प्रसन्न-चित्त मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही किर खिर हो जाती है।” *

इस जगत्प्रपञ्च की रंगभूमि में सब कामों को निस्सार और क्षणिक नहीं, बरन उन्हें सारथुक और साथी समझ कर सब कुछ कीजिए, परन्तु उनमें लिप्त होने से अपने को सदा बचाये रहिए। आसक्त होते ही आप पर सुख और दुःख अपना अधिकार कर लेंगे। सब कामों को करते हुए भी स्वयमेव उनके दर्शक रहिए, अथवा जिस भाँति से नाटक में खेलते समय नट अपने सुख, दुःख, भय, क्रोध इत्यादि के मनोभावों को वास्तव में ज्यों का ल्यों दिखा कर भी अपनी आत्मा को उनसे अलग रखता है, वैसे ही आप इस संसार के बड़े नाटक में खेलिए। जैसे नाटक में वास्तव में न कोई किसी का पिता, न कोई किसी की माता और न कोई किसी का पुत्र है, न कोई कहाँ से आया है और न कोई कहाँ जायगा; नथा न कोई उत्पन्न होता और न

* “ग्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो द्याणु बुद्धिः पर्यवनिष्ठते ॥”

(भगवद्गीता)

कोई मरता है, ठीक वही दशा इस संसार की भी समझिए और जीवन-मरण तथा सुख-दुःख की झूठी आग में अपनी प्रसन्नता की आहुति कभी न दीजिए । यहाँ पर यही अपना कर्तव्य है कि जीवन भर हम अपने लिंदेष्ट नाटकीय काम को उत्तमता-पूर्वक करें और उसकी उपेयागिता को भली भाँति दिखा कर पूरी सफलता पावें । “किसी कारण से भी (इसमें) हमारी प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा नहीं होती है । हमें अपने काम को उत्तमतया करना चाहिए, इसी में हमारा गौरव है ।”*

प्रसन्नचित्त होकर काम करने में हमें सहायकों की कमी नहीं रहती है । सुखी रहना मनुष्य के लिये प्राकृतिक है और दुःखी रहना इसके विरुद्ध, इसलिये ऊँची मनोवृत्ति के साथ प्रसन्न होकर काम करने से प्रकृति तक पूरे तौर से अपना साथ देती है । मन लगाकर काम करते समय अपनी आत्मा को भूल जाना चाहिए, तभी उत्तम फल मिलेगा; रहा यश और लाभ, सो अपने आप ही आपके पीछे दैड़ेगा । आप अपना कर्तव्य भलीभाँति कीजिए और प्रसन्न-चित्त रहिए । जो उसके आवश्यक फल हैं वे अपने आप ही होंगे; आप चाहे उनके लिये चिन्ता करें और चाहे उन्हें बैसा ही छोड़ दें हमें अपने कर्तव्य के पालन से कभी न घबराना चाहिए ।

* “Honour and disgrace from no condition arise,
Act well your part, therein honour lies.”

पाँचवाँ रहस्य—निर्भयता ।

मनुष्य को सदा निडर रहना चाहिए । कोई भी विपत्ति या काम अपने सामने आये उससे कदापि न भयभीत होना चाहिए । मनुष्य विपत्तियों को भौर कठिनताओं को अपने पैरों के नीचे कुचलने के लिये जन्म लेता है, न कि स्वयं उनसे कुचले जाने के लिये । ये उसकी बुद्धि भौर बल की फसौटी हैं । जो मनुष्य इनसे दब जाता है वही कायर है भौर वही अपने जीवन को सत्यानाश कर देता है, इसके विरुद्ध जो इनकी धज्जियाँ उड़ा के विजय भौर सफलता को पाता है वही बार है भौर वही अपने साथ ही अपने देश की भी उच्छति करता है । वह विपत्तियों से निकल कर तपे हुए सोने के समान दूना चमकदार होजाता है ।

कोई भी बात हो, कोई मामला हो, या कोई दुःख हो सदा अपने चित्त को निश्चङ्ग रखना चाहिए । शङ्का के आते ही रस्सी साँप भौर लेटी सी भाड़ी भी “ भूत ” बन जाती है । घास्तव में भय कोई गदार्थ नहीं है । अपनी मनोधृति को ऊँची रखने से हमारे चित्त में शंका को स्थान न मिलेगा, भौर तब भय का नाम तक हमारे पास नहीं आ सकता है ।

मनुष्य अपने आप ही अपनी दशा को शोचनीय बना लेता है । अपने को हृदय के साथ निर्भय बनाइए, फिर किस में शक्ति है जो आपका साहस तोड़ सके ? इन्द्र का इन्द्रासन भले ही

डिंग जावे, परन्तु आपका पुष्ट हृदय नहीं हिल सकता है । किसी भारी दुःख को देख कर चित्त को कभी न छोटा कीजिए और दूने बल से उसके ढुकड़े ढुकड़े कर डालिए । पेसे समयों में सदा स्मरण रखिए कि ईश्वर ने निस्सन्देह हमारी विद्या, बुद्धि और बल का बहुत ही बड़ा सम्मान किया है, तभी तो उसने हमारी परीक्षा के लिये हमें इतनी बड़ी विपत्ति छोलने को दी है । उसको पैरों से कुचल कर और फिर दूने तेज से उठ कर हमें परमात्मा को भली भाँति दिखा देना चाहिए कि हम उस प्रतिमा और विश्वास के योग्य हैं । जिनका पात्र उसने हमें समझा है । क्या आप नहीं देखते हैं कि अपने यहाँ बड़ी कठिनाई का काम सदा बड़े बुद्धिमान और अनुभवशील मनुष्य ही को सौंपा जाना है ? इस दशा में यदि ईश्वर ने हमें किसी विपत्ति, किसी कठिनता, या किसी परीक्षा के योग्य समझ कर हम को किसी बड़ी उलझन में या किसी बड़े दुःख में डाला है, उससे भय कैसा ? वह तो वास्तव में हमारी योग्यता की कसौटी है ।

छठा रहस्य—आत्मविश्वास ।

“जिस मनुष्य में तेज है वही बलवान् है । बड़े ढीलपाल से कुछ भी नहीं होता है ।”* इसी उक्ति से आत्म-विश्वास की महिमा का पता लगता है । कहाँ पहाड़ के समान शरीरवाला

* “तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ।”

(भृंहरिशनकथय)

हाथी और कहाँ दुबला-पतला सिंह, परन्तु यह अपने तेज और बल में पूरा विश्वास रखता है, इसलिये यह क्षण भर में तड़प कर उसके सिर पर दिखायी देता और उसे पछाड़ देता है । कई हाथी मिलकर भी एक सिंह का सामना करने की हिम्मत नहीं रखते हैं, कारण कि उनमें आत्मविश्वास का नाम तक नहीं होता है ।

हमारी आत्मा अनादि, अनन्त, अप्रमेय, अपरिमित, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् परमात्मा की सत्ता का एक सजीव और तेजस्वी अंश है, इसलिये प्रायः ये सभी गुण हममें थोड़े-बहुत होने चाहिए । परिमित संसार में परिमित शक्तियों को देख कर हमें अपना वास्तविक स्वरूप कभी न भूलना चाहिए । हम उसी आनन्दमूर्ति और बलशाली जगदीश्वर का अंश हैं जो सारे संसार में अपना प्रकाश दिखा रहा है । कोई कारण नहीं कि हम अपने को परिमित, परिकृति और परिमिटि मान बैठें । ये उलटी-सीधी बातें मान बैठना ही हमारे जीवन को नष्ट कर देना है । यह सदा स्मरण रखिए कि “जैसा आप अपने को समझिएगा ठीक जैसे ही आप निस्सन्देह हो जाइएगा ।”* कोई भय का कारण न हो और आप अपने को भयभीत मान बैठिए, फिर क्या है उसी दम भय आ दबायेगा । यह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है कि कितना ही बड़ा सुख हो,

* Just as you think, so you are bound to be.

परन्तु उस समय आप उस को दुःखित मनुष्य की हाँड़ से देखिए, और तब तुरन्त दुःख ही दुःख दीखेगा । इसी तरह से महाविपत्ति में भी चिन्त को शान्त रख कर उसे सुख-पूर्ण नेत्रों से देखने का यत्न कीजिए । उसी समय उस धोर दुःख के बादल धीरे धीरे कटने लगेंगे और चिन्त में आनन्द का संचार आरम्भ हो जायगा । करोड़पती मनुष्य तक अपना जीवन प्रायः रोकर बिताते हैं और एक परिश्रमजीवी, जो दिन भर में ३० कमा कर सायंकाल में बाजारे की रोटी और नमक खाता है, अपनी रात को ऐसी बैन से काटता है जो राजाओं और महाराजाओं के भाग्य में भी बिरला ही लिखी होती है । यह सब आत्मविश्वास और मनोवृत्ति का प्रताप नहीं तो और क्या है ?

विचार करने से यह स्पष्ट रीति से जात होगा कि कोई वस्तुविशेष या दशाविशेष सुख या दुःख की सामग्री कदापि नहीं है, बरन हम अपनी पवित्र या दूषित, और ऊँची या नीची मनोवृत्ति के अनुकूल अपने को मुखी या दुःखी मानने लगते हैं । इसी बात को समझ कर हमें आत्मविश्वासी बनना चाहिए । हमें अपनी विद्या, अपनी बुद्धि, अपने बल, अपने प्रताप, अपनी उपर्योगिता और अपनी प्रतिभा में पूरा विश्वास रख कर समस्त काम करना और जीवन बिनाना चाहिए । बिना आत्म-विश्वास के योग्यता होने पर भी किसी काम के करने का साहस न होगा और उस को आरम्भ करने पर

उसमें सफलता न मिलेगी, इसके सिवा सब सभ्य आकुलता, भय और कोध, नथा दुःख, विपत्ति और क्षेश के विचार चित्त को दबाये रहेंगे और समस्त जीवन को तहस-नहस कर देंगे ।

यही सोचते रहना कि “मैं दुःखी हूँ”, “मैं दरिद्री हूँ”, “मैं अभागा हूँ” इत्यादि वास्तव में मनुष्य को सत्यानाश कर देता है । वह जो कुछ सोचेगा वही सचमुच हो जायगा । यदि कोई बुरे विचारों को, बुरे भावों को, बुरी मनोवृत्ति को और बुरी दशा के भय को अपने पास कभी न आने दे और सर्वदा अपनी तेजस्विता, वीरता, प्रताप, योग्यता और शक्ति में हड़ निश्चय रखें, तो वह वास्तव में अभागा होने पर भी सुखी रह सकता है । हड़ आत्म-निष्ठा और हड़ आत्म-विश्वास में वह शक्ति है जो बड़े बड़े देवताओं तक को कँपा सकती, प्रकृति को जीन सकती और सारे संसार पर अधिकार कर सकती है । अहा ! थोड़ी देर के लिये अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप का ध्यान कीजिए—वह अनादि है, वह अनन्त है, वह सदानन्दमय है, वह सर्व-शक्तिमान् है, वह सर्व-व्यापी है, वह स्वतन्त्र है, वह अपरिमित है और वह तेजस्वी है । अपने चित्त में इन विचारों का हड़ समावेश करने का स्वभाव ढालिए और तब आप अपने वास्तविक रूप को देख कर अपनी दशा को अवश्यमेव उद्धत कर सकेंगे ।

जब हम इन्हीं विचारों को अपने चित्त में स्थान देते थे और अपने को भगवान् का अंश मानते थे, तब हमारा प्रताप, हमारा तेज, हमारा गौरव और हमारा मान कुछ और ही था ।

अब अपने आपको यह समझ कर कि “मैं पाप हूँ, मैं पापकर्मी हूँ, मैं पापात्मा हूँ, और मैं पाप से पैदा हुआ हूँ । हे पुण्डरी-काश, मुझे बचाइए और मेरे सब पापों को हरिए !”* और इसी प्रकार से मानें यह सोचकर कि ‘‘मैं दास हूँ, मेरे बाप-दादे दास थे, दासत्व की मेरी वृत्ति है, और मैं दास ही रहना चाहता हूँ । हे भगवन्, मुझे स्वतन्त्र कीजिए ।’’ हम लोग अपनी वर्तमान हीन अवस्था को पहुँचे हैं और दिनों-दिन गिर रहे हैं । कहिए वैष्णव का कोई ठिकाना है । एक और तो स्वयं पापी और दास बनना, मौर दूसरी और तुरन्त ही भगवान् से कहना कि मुझे पुण्यात्मा और स्वतन्त्र बनाइए । भगवान् हम सभी को अपने तेज का अंश देकर हमें पहले ही से पुण्यात्मा और स्वतन्त्र बना द्युके हैं, परन्तु जब हम स्वयमेव निरन्तर बकने और मानने लगते हैं कि हम वैसे नहीं हैं और इस कारण से वास्तव में वैसे न रह जावें, तब हमें ईश्वर का क्या देाप है ? परमात्मा चाहता है कि हम भाग्यशाली और तेजस्वी, प्रतापी और स्वतन्त्र हों, परन्तु हम अपने दूषित और आपविच विचारों से अपना जन्म विगड़ देते हैं ।

अपनी आत्मनिष्ठा से हम सब कुछ कर सकते हैं और अपने जीवन को उत्तम, सफल और उन्नत बना सकते हैं । ‘‘हमें तुच्छ

* “पापेऽहं पापकर्मीऽहं पापात्मा पापसम्भवः ।

त्राहि मां पुण्डरीकाङ्ग सर्वपापहरो भव ॥”

विचारों से एकदम अलग रहना चाहिए, अपविष्ट बातों को कभी न मुँह से निकालना चाहिए और नीच काम कभी न करने चाहिए, नहीं तो एक को निरन्तर सोचते रहने से, दूसरे को निरन्तर कहते रहने से और तीसरे को निरन्तर करते रहने से हम अपने को जैसा सोचेंगे, जैसा कहेंगे और जैसा करेंगे, वैसे ही किसी न किसी दिन सचमुच हो जावेंगे ।



३—एक पवित्र छाया ।*

 समय में एक सिद्ध मनुष्य हो गये हैं । वह ऐसे पुण्यशील थे कि उनकी साधुता के अवलोकनार्थ चकित देवदूत इस संसार में आये । जिस प्रकार से नक्षत्रों के द्वारा ज्योति और पुण्यों के द्वारा सुगन्धि का सञ्चार हो जाता है वैसे ही वह महात्मा बिना स्वयं जाने इतस्ततः धर्मसूत की घर्षा करते हुए भ्रमण किया करते थे ।

उनका पूर्ण दिवस दान देने तथा क्षमा करने में व्यतीत होता था । यद्यपि वह बहुत शब्दों का उच्चारण नहीं करते थे, तथापि उनके मन्द हास, कृपा, सहनशीलता और दीनचत्सलता के द्वारा उनका पूर्ण प्रादुर्भाव होता था ।

ईश्वर ने उत्तर दिया—“ठीक है, उस महात्मा से भी तौ पूछो कि उसकी क्या अभिलाष है ।”

“ दिसम्बर १९०५ । “श्रीराधवेन्द्र” भाग २, संख्या २, पृष्ठ १६६--१७१ । प्रायः यथापूर्व । स्वामी रामतीर्थजी के हस्ती नाम के (A Holy Stinidow.) लेख का अनुवाद ।

तदुपरान्त देवदूतों ने उस महात्मा से कहा—“क्या आप चाहते हैं कि आपको हस्तस्पर्श मात्र से रोगी को नोरोग कर देने की शक्ति मिल जाय ?”

महात्मा—“नहीं, मेरी इच्छा है कि ईश्वर ही यह करे ।”

देवदूत—“क्या आपकी यह कामना है कि पापियों को शिष्य बना कर (आप) उनके भट्टके हुए चित्तों को सत्यथ पर लगावें ?”

महात्मा—“नहीं, यह कार्य देवदूतों को स्वयं करना चाहिए ।”

देवदूत—“क्या (निज) गुण-द्वारा मनुष्यों के चित्तों का आकर्षण करते हुए आपको सहिष्णुता का आदर्श बनना रुचेगा ? इससे तो ईश्वर की भी प्रशंसा होगी ।”

महात्मा—“नहीं, क्योंकि यदि मनुष्य मेरी ओर आकृष्ट हो जावेंगे, तो ईश्वर से उनका चित्त हट जायगा । ईश्वर अन्य प्रकारों से प्रशंसनीय है ।”

देवदूत—(सम्मान हाकर) “फिर आप क्या चाहते हैं ?”

महात्मा—(सहस्रा) “मुझे इच्छा ही किस वस्तु की हो सकती है । बस, ईश्वर की कृपा चाहिए । क्या उसकी कृपा होने पर मेरे पास सब कुछ नहीं हो जायगा ?”

देवदूत—“तुम्हें कोई वर माँगना चाहिए, अन्यथा तुमको अवश्यमेव कोई न कोई वर ग्रहण करना पड़ेगा ।”

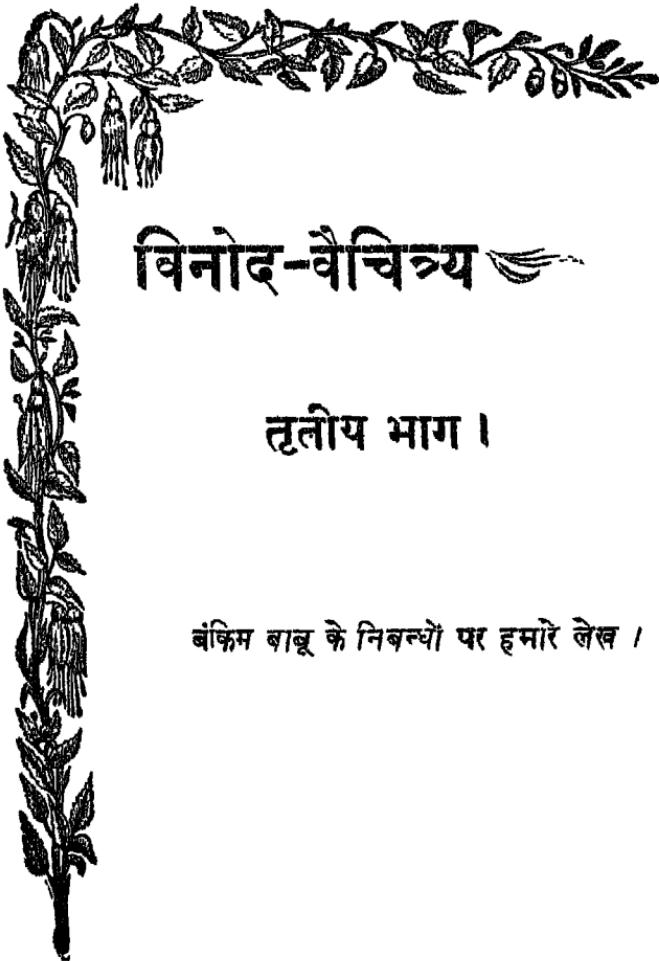
महात्मा—“अच्छा, मैं बिना स्वयं जाने हुए सब के साथ भलाई किया करूँ ।”

अब तो देवदून व्याकुल हुए । उन्होंने आपस में गोप्ता करके यह प्रस्ताव निश्चित किया कि “सभी समय जब इस महात्मा की छाया इसके पीछे अथवा किसी पार्श्व में पड़े जिसे यह स्वयं देख भी न सके, तब उस छाया के प्रभाव से रोग के स्थान में आरोग्य, दुःख के स्थान में सुख तथा शोक के स्थान में आनन्द का सञ्चार हो ।”

ऐसा ही हुआ । जब कभी वह महात्मा भ्रमण करते थे, तब उनकी छाया उनके पीछे या किसी न किसी पार्श्व में पड़ कर मुरझायी हुई घास को हरी-भरी, शुष्क वृक्षों को प्रफुल्लित, जल-रहित झोनों को जलपूर्ण, निर्बल बालकों को बलवान्, तथा शोकाकुल मातापिंडों को प्रसन्न करती थी ।

वह महात्मा यिना जाने हुए धर्माभृत की घर्षों किया करते थे, जिस प्रकार से नक्षत्र ज्योति का तथा पुष्य सुगन्धि का सञ्चार करते हैं ।

सर्वसाधारण उनकी नम्रता के कारण उनका आदर करते थे, तथा चुपचाप ही उनके अनुगामी होते थे । वे उनके चमत्कार का हाल उन्हें कुछ भी नहीं बतलाते थे । शानैः शानैः सब भनुष्य उनका नाम भूल गये और उनको “एक पवित्र छाया” कहने लगे ।



विनोद-वैचित्र्य

तृतीय भाग ।

बंकिम बालू के निबन्धों पर हमारे लेख ।

१—सूक्ष्म शिल्प ।

छ मनुष्यों का कथन है कि संसार में सुख नहीं है, इस कारण से वन में वास करके निर्बाण और मुक्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिए । अन्य दल का विश्वास है कि संसार सुख से परिपूर्ण है, इससे दुष्ट लोगों से अपने को बचा कर खाना, पीना और आनन्द करना उचित है । उत्तर पश्चिमाले सुखाभिलाषियों में अनेकानेक मत हैं । किसी की राय में धन में, किसी की सम्पत्ति में मन में, और किसी के लिये धर्म में सुख है । ऐसे ही अन्य लोगों के लिये ज्ञान, कर्म, अथवा अधर्म में आनन्द है, परन्तु संसार में इस भाँति का मनुष्य कहाँ न देख पड़ेगा जिसे सौन्दर्य में सुख न गिले । सब ही सुन्दर रमणी की कामना करते हैं, सुन्दर नारी को देख कर प्रसन्न और सुन्दर बालक का प्यार करने को विमुग्ध होते हैं, और संसार में अनेक मनुष्य सुन्दर पुत्र-वधु पाने के लिये अपना माथा लापाते हैं । सुन्दर पुष्पसमूह शाया पर रक्खे जाते हैं । धर्मान्त ललाट जो फैदा

* मई १९०८ । “अभ्युदय” की एक संख्या, मई १९०८ । अंशतः स्वतन्त्र ।

करता है उससे सुन्दर गृह निर्माण करके और उसे सुन्दर उपकरणों से सजा कर लोग अपने को ब्रह्मी बनाते हैं । धर-बार, बरतन, पीतल और काँसा जिस प्रकार से सुन्दर बन जावें वही यत्करने को सब कठिन हरते हैं । सुन्दर वृक्षों से उद्यान को सुशोभित करने, सुन्दर मुख पर सुन्दर मुसकराहट देखने, और सुन्दर सोने के आभूषणों से सुन्दरी को सजाने की इच्छा सबही को रहती है । जन-समूह इसी सुन्दरता पर सर्वदा मोहित रहते हैं, इस कारण से इस थान पर इसका निरूपण करना अनुचित न होगा ।

सौन्दर्य-तृष्णा जितनी ही बलवती हो यह उतनी ही प्रशंसनीय और परिपेषणीय भी है । जितने प्रकार का मानुषिक सुख होता है उन सब में यह उत्कृष्ट है, कारण कि यह पवित्र, निर्मल पवं पाप-स्पर्श-शून्य है । सौन्दर्य का उपभोग केवल मानसिक सुख है; स्पर्शनिदयों के साथ इसका कुछ भी सरोकार नहीं है । यह बात सत्य है कि अनेक समयों पर सुन्दर धन्तु का सम्बन्ध इन्द्रिय-परितृप्ति से रहता है, परन्तु सौन्दर्य-जनित सुख इन्द्रिय-तृप्ति से अवश्यमेव भिन्न है । जितना संतोष सोने के पात्र में जल पीने से होता है उतनी ही तृप्ति भिन्नी के भद्रे बरतन में पान करने से होगी, परन्तु स्वर्णपात्र में पानी पीने के अतिरिक्त सुख का भी अनुभव होता है । यही सौन्दर्य-जनित मानसिक सुख है । अपने ही सोने के गिलास में जल पीने से थोड़ा बहुत अहङ्कार-जनित सुख भी भिन्ना होता है, किन्तु अन्य मनुष्य के स्वर्णपात्र-द्वारा जो तृष्णा-

निवारणातिरिक्त सुख होता है उसे सौन्दर्य-जनित मात्र कहना पड़ेगा । दूसरे अधिकता में यही सुख गुरुतर है । शोभा-प्रिय और काव्य-रसिक जन इस प्रभेद के अनेक उदाहरण सोच सकते हैं । तीसरे अन्यान्य सुख किर किर अनुभव करने पर अप्रीतिकर होने लगते हैं, किन्तु सौन्दर्य-जनित सुख चिरनूतन और चिरप्रीतिकर रहता है, अतपव जो लोग मनुष्य-जाति के इस सुख को बढ़ावें वे मनुष्य-जाति के परोपकारियों में परिगणित होने चाहिए । आप भले ही उस एक भिक्षुक को, जो सङ्ख पर गीत गाते हुए भिक्षोपार्जन कर रहा है, अपना उपकारी कहने में संकोच करें, किन्तु उन महाकवि महोपकारी वाल्मीकिजी को, जिन्होंने करोड़ों मनुष्यों के अक्षय सुख और चिरोत्कर्ष का उपाय विधान किया है, सब से उच्च श्रेणी में रखना सर्वथा उचित होगा ।

जैसे मनुष्य के अन्यान्य अभावों को पूर्ण करने के लिये एक एक विद्या है वैसे ही सौन्दर्याकांक्षा की परिपूर्ति के लिये भी विद्या है । सौन्दर्य को पैदा करने के अनेक उपाय हैं । उपाय-भेद के अनुकूल उस विद्या के पृथक् पृथक् रूप हैं । हम लोग जिन अनेक वस्तुओं में सुन्दरता का अनुभव करते हैं उनमें से बहुतों में वर्णमात्र होता है तथा और कुछ भी नहीं होता है—जैसे ‘आकाश’, कुछ में वर्ण के साथ आकार होता है—जैसे ‘पुष्प’, और कुछ ऐसी चीजें हैं जिनमें वर्ण, आकार और गति ये तीनों होते हैं—जैसे ‘सर्प’ । इसी प्रकार से कुछ वस्तुओं में

वर्ण, आकार, और गति के साथ शब्द भी होता है—जैसे 'केकिल'। इन साधनों के साथ अर्थयुक्त वाक्य की भी गणना कर लेनी चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य-सृजन के लिये वर्ण, आकार, गति, शब्द, एवं अर्थयुक्त वाक्य मुख्य सामग्री हैं।

जिस सौन्दर्य-जननी विद्या का अधलम्बन वर्ण-भाष्य है वही चित्र-विद्या है, और जिसका अधलम्बन आकार है वह विद्या दो प्रकार की होती है; जिस विद्या का उद्देश्य जड़ का आकृति-सौन्दर्य है उसे स्थापत्य, तथा चेतन और उद्दिद की सुस्वरता के उद्देश्यवाली कला को भास्कर्य कहते हैं। जिस सौन्दर्य-जननी विद्या की सिद्धि गति द्वारा होती है उसे नृत्य कहते हैं। ऐसे ही जिसका अधलम्बन शब्द है उसे संगीत तथा जिसका उद्देश्य अर्थयुक्त वाक्य है उसे काव्य कहना होगा।

काव्य, सङ्कीर्त, नृत्य, स्थापत्य, भास्कर्य, एवं चित्र ये छः सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाली विद्याएँ हैं। इन्हों का नाम सूक्ष्म शिल्प * है। ये छः सौन्दर्य-जनयित्री कलाएँ मनुष्य के जीवन को सुभूषित करती और सुखमय बनाती हैं। भाग्यहीन मनुष्य इन कलाओं से विरोध करते रहते हैं। वे सुख का अनुभव करना नहीं जानते हैं, इस कारण से उनका बड़ा अनादर होता है और वे अपने को सुखी नहीं बना सकते हैं। भर्तृहरिजी ने भी ऐसे भाग्यहित जनों की बँड़ी खबर ली है। उनका कथन है:—

“जो मनुष्य साहित्य, संगीत और कलाओं को नहीं जानता है वह सचमुच बिना सीँग और पूँछ का पश्चु है ।” *

ऐसे महात्मा (अल्पात्मा ?) बिना पूँछ और सीँग के पश्चु बन कर जिनना सुखी हो सकते हैं उसे सर्वेसाधारण को विचारना चाहिए, परन्तु वे मनुष्य, जिन्हें (१) साहित्य (२) सङ्गीत और (३) कला इन तीनों का ज्ञान नहीं है, एकदम दोष के भागी नहीं हैं । उनके अज्ञान के कई कारण हैं । इन बातों में मनुष्य की सामाजिक रीति और अर्थ-शून्यता बहुत कुछ व्याधान करती है । पूर्व पुलियों के भद्रासन को न त्याग कर वे टीड़ियों की भाँति उसी गर्त में पड़े रहना पसन्द करते हैं, इसलिये स्थानाभाव से वहाँ पर परिष्कृति और सौन्दर्य-साधन असम्भव हैं । इसके सिवा दारिद्र्य अपना को हाथ और पैर नहीं फैलाने देता है । वास्तव में सौन्दर्य अर्थ-साध्य है ।

अब चलिए सामाजिक रीतियों पर ध्यान दीजिए । नागरिक, महिलाओं के, अलड़ार, विवाहों के ऊटपटाँग खर्च और अन्य प्रकार के अपव्यय सबही को करने पड़ते हैं । सब पर तुरो यह कि शूकर-शाला के समान गृह में वास करना पड़ता है । यदि कोई काँई सउजन उपरोक्त दोषों को हटा कर सुसज्जित गृह में वास करना आरम्भ करते हैं, तो वे अपनी लिङ्गष्ट अनुकरण

* “साहित्य-संगीत-कला-विहीनः

साचात्पश्चुः पुच्छविपाणहीनः ।”

करने की शक्ति को बहुत उपादा बढ़ा देते हैं । वहाँ पर उनका उद्देश्य सौन्दर्य का अनुराग न होकर व्यर्थ वस्तुओं में द्रव्य का अपव्यय मात्र हो जाता है । एक विद्वान् ने लीक ही लिखा है कि अपने यहाँ के अनेक रईसों के बैठक घर अकान न मालूम होकर किसी अँगरेज सौदागर की दूकान प्रतीत होते हैं । यह अत्यन्त लज्जास्पद विषय है । लाखों रुपये अपव्यय करके बड़े सामान खरीदे, और स्वदेश के करोड़ों रुपये लुटा दिये, तब भी कला-कौशल सुदूर पराहत, सीधे-सादे अँगरेज दूकानदार बन बैठे और इसके साथ ही रही-सही 'रियासत' भी काफूर हो गयी ।

हमारा भारतवर्ष किसी समय सूक्ष्म शिल्प के लिये बहुत विख्यात था । अब आज उसे इस विषय में भी इतना गिरा हुआ देख कर बिना अक्षुण्णत किये चिन्ता नहीं मानता है । इन कलाओं की उन्नति रुपये पर निर्भर है, अतएव रईस लोगों को इस बात के लिये अवश्य सचेष्ट होना चाहिए, जिसमें सूक्ष्म शिल्प भारतवर्ष से कहीं एकदम न नष्ट हो जावे । न जानें कि रईसों का अँगरेज दूकानदार प्रतीत होने में क्या स्वाद आता है । शिल्प की समृद्धि जातीय अभिवृद्धि के हेतु अत्यावश्यक है ।

२—अनुकरण । ६

राने ढंग के अनुभवशील और वयोवृद्ध महानु-
पु भाव बहुधा आजकल के नयी ज्योतिवाले
लड़कों को अनेकानेक होषों का आगार बत-
लाया करते हैं । चालव में वे ऐसा द्वेष से नहीं, बरन अपनी
सहृदयता के कारण, तथा नवयुवकों के अवगुणों को हटाने की
बुद्धि से, और उन्हें भविष्य में देशहितैषी बनाने के लिये कहा करते
हैं । अनुभव-प्राप्त मनुष्यों की मार्क की बातों को तिरस्कार कं
साथ हँसी में उड़ा देना बेसमझी का काम है । उनके उपदेशों
को मून कर यदि कोई दोष अपने में सचमुच हो, तो उन्हें हटाने
का प्रयत्न करना चाहिए । यही चतुरता है और यही सुधार का
चिह्न है । आप मैं गुण वर्तमान हों, तो भी अच्छी बात
है, परन्तु दोष-निर्वाचन अत्यावश्यक है, क्योंकि जानने ही पर
आप अपने को दोषों से मुक्त कर सकते हैं ।

नयी ज्योतिवालों में अच्छे अच्छे गुणों के साथ अनेक दोष
भी हैं । उन सबमें अनुकरणानुराग सर्वादिसम्मत है । कभी
कभी इसी दोष की अधिकता के कारण हमारा उपहास

* सेप्टेम्बर १६०८ । ता० ११—६—१६०८ का “अनुवद” ।

किया जाता है। अनुकरण मात्र कदापि दूषणीय नहीं है। सिवा अनुकरण के पहिले पहिल शिक्षा का और कोई उपाय नहीं है। जैसे छोटा लड़का बड़ों की बात-चीत को सुन कर बोलना और बड़े होने पर अन्य लोगों को काम करते हुए देख कर कार्य करना सोखता है वैसे ही एक असभ्य और अशिक्षित जाति सभ्य और शिक्षित जाति का अनुकरण करके स्वयं शिक्षा प्राप्त करती है। यदि इस समय हम लोग अंगरेजों का अनुकरण करें, तो यह संगत और युक्ति-सिद्ध हो सकता है। यह सच है कि आदिम सभ्य जाति ने बिना अनुकरण के अपने को स्वतः शिक्षित और सभ्य बना लिया था, प्राचीन भारत और मिस्र देश की सभ्यता का विकास किसी के भी अनुकरण से नहीं हुआ था, किन्तु कहिए कि यह वर्तमान योरोप देश की सभ्यता किस का फल है? यह वास्तव में रोम और यूनान देश के अनुकरण का परिणाम है। ठीक भी है, यदि योरोप के देशों ने पहिले ही से अनुकरण न किया होता, तो आज ये श्रेष्ठ दशा को कैसे प्राप्त होते?

लोगों का विश्वास है कि अनुकरण में प्रथम श्रेणी का उत्कर्ष प्राप्त होना असम्भव है। उसे पहिले साहित्य के सम्बन्ध में देखिए। संसार के अनेक उत्तमोत्तम काव्य अनुकरण मात्र हैं। ड्राईडेन का अनुकरण पोप ने किया; अनन्तर जान्सन ने पोप का अनुकरण किया। वर्जिल का काव्य होमर के प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ का अनुकरण है। रोम का समस्त-साहित्य यूनान के साहित्य का अनुकरण है।

विदेशी उदाहरण जाने दीजिए; अपने यहाँ देखिए कि महाभारत अनेक अंशों में वाल्मीकि-रामायण का अनुकरण मात्र है । अन्यान्य पुस्तकों में अनुकृत और अनुकरण के समस्त नायकों में जितना भेद पाया जाता है प्रायः उतना ही राम और युधिष्ठिर में भी है । रामायण के अमितबलधारी, वीर, जितेन्द्रिय और भ्रातृवत्सल लक्ष्मण महाभारत में अर्जुन के रूप में परिणत हो गये हैं । ऐसे ही भरत और शशुभ्र नकुल और सहदेव हो गये हैं । महाभारत में भीम की नूतन सृष्टि में कुम्भकर्ण की कुछ छाया वर्तमान है । रामायण में रावण, महाभारत में दुर्योधन, रामायण में विभीषण, यहाँ विदुर, ऐसे ही अभिमन्यु का संगठन इन्द्रजित् की अस्थिमउज्जा लेकर किया गया है । यहाँ राम भाई और पत्नी के साथ चन्द्रासी हुए, महाभारत में युधिष्ठिर भाइयों और पत्नी के साथ चन्द्रारी हुए । अथ च दोनों ही राज्यच्युत हैं । एक की पत्नी हर ली गयी थी, दूसरे की पत्नी सभा के बीच में अपमानित हुई ।

इन दोनों काव्यों की सार कथा यही है कि युवराज को राज्यच्युत होकर चन्द्रास करना पड़ा, और अन्न में लड्डने-मिडने के बाद समर में विजय पाने पर फिर अपने राज्य पर अधिकार मिला । छोटी छोटी घटनाओं में भी इन दोनों में साहश्य वर्तमान है । मिथिला का धनुर्भङ्ग पांचाल के भत्स्यविन्ध्य में परिवर्तित हो गया है, तथा दशरथ-कृत पाप और पांडु-कृत पाप में विलक्षण ऐक्य देख पड़ता है । यदि आप की इच्छा न

हो, तो चाहे महाभारत को रामायण का अनुकरण न कहिए, परन्तु वास्तव में अनुकरण और अनुकृति में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध बिरला ही देखने में आवेगा ।

अब समाज के सम्बन्ध में इस विषय पर हाइ डालिए । यूनान की सभ्यता का हाल जान कर रोमधालें ने उनका अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया । किकेरों की वाणिना, वर्जिल का महाकाव्य, होरेस का गीतिकाव्य, सेनेका की धर्म-नीति आदि इसी यूनान के अनुकरण के फल हैं । इटली और फ्राँस के साहित्य ग्रीस और रोम के अनुकरण हैं । यहाँ तक कि योरोप की शासन-प्रणाली और व्यवस्था-शास्त्र सब ही रोम के अनुकरण हैं । योरोप की आधुनिक स्थापत्य और चित्र विद्या भी रोम और यूनान के मूल से विशिष्ट हैं । पहले इन सब में अनुकरण ही था, परन्तु अब इन सब रितियों ने अनुकरण की अवस्था को छोड़ कर एक उत्तम और पृथक् भाव धारणा कर लिया है । प्रारम्भ में अनुकरण अनुकरण मात्र होता है, परन्तु उसमें प्रतिभा का समावेश हो जाने पर वह एक स्वाधीन भाव धारणा कर लेता है । ऐसे ही अभ्यास को स्थिर रखने से वह उत्कर्ष को प्राप्त हो सकता है । जिस समय बालक विद्यारम्भ करता है, तब पहले वह गुरु के लिखे हुए अक्षरों का अनुकरण करता है, अनन्तर वह स्वतंत्रता के साथ लिखता है, और बाद को प्रतिभाशाली होने पर वह स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त कर सकता है ।

इन सब बातों के साथ यह भली भाँति स्परण रखिए कि प्रतिभाशूल्य अनुकरण कर्दर्य है । जिन लोगों में आधिकारिणी लुच्छि नहीं है और जो सदा अनुकरण ही किया करते हैं उनमें स्वतंत्रता कदापि नहीं देख पड़ती है । योरोप-देशीय नाटकों से इस बात का अच्छा उदाहरण मिलेगा । योरोप के सब नाटक-कारों ने यूनान के नाटकों का अनुकरण किया । इंगलैण्ड और स्पेन अपने प्रतिभाशाली अनुकरण से पार्थक्य और वैविध्य ग्रास करने में समर्थ हुए, तथा अन्य देशों में वही पराधीन और निष्ठनीय अनुकरण साफ़ फलक रहा है ।

वही अनुकरण निष्ठनीय, अधार्घलनीय, और अग्राह्य है जो प्रतिभा से रहित है । “वास्तव में प्रतिभावान् का अनुकरण अनुकरण ही नहीं बना रहता है, बरन वह उसे ऐसा अपना लेता और अपनी स्थिति के अनुकूल कर देता है * कि उन दोनों के पूर्वापर रूपों में बड़ा भेद हो जाता है ।” अक्षम व्यक्ति के अनुकरण से अधिक धृणाकर अन्य कोई वस्तु नहीं है । आज-कल के प्रचलित अनुकरणों में से अधिकांश विवेक और प्रतिभा से दूर्घ्य हैं । इसी कारण से वे निष्ठृष्ट और निष्ठा के थाम्य हैं । दूसरे जितनी अधिक प्रवृत्ति इन दिनों अनुकरणों की ओर देख पड़ती हैं वह अनावश्यक है । इन्हीं कारणों से बहुधा यह हृषि-गोष्ठ देखता है कि लोग अनुकरण करने में अच्छी बातों को

* Adiupta.

ग्रहण करने के बदले बुरी बातें सीखना आरम्भ कर देते हैं । यह वास्तव में बड़े दुःख का विपय है । जितने लोग दोषों के अनुकरण में प्रवृत्ति दिखाया देते हैं उतने गुणों के ग्रहण में नहीं जान पड़ते हैं । यदि विचार के साथ उत्तम उत्तम बातें और रीतियां का अनुकरण किया जावे, तो क्या ही अच्छा हो ।

प्रतिभाशाली अनुकरण होने पर भी दो दोषों की सम्भावना है । उनमें से प्रथम वैचित्र्य का अभाव है । संसार में विचित्रता को देख कर एक प्रकार का सुख होता है । यदि पृथ्वीतल पर सब पदार्थ एक ही प्रकार के होते, तो जगत् इतना सुखमय कदापि न होता । यदि इस लोक में सब शब्द कोकिला के स्वर के समान होते, तो बतलाइप वास्तविक कोकिला की मधुर कण्ठवनि का क्या प्रभाव पड़ता ? भनुष्य में यह प्रकृति वर्तमान है कि उसे विचित्रता से सुख मिलता है । अनुकरण में इस सुख का नाश हो जाता है ।

दूसरे प्रत्येक काम का यह नियम है कि उसे नये रूप में बारंबार करने से उत्कर्ष मिल सकता है । अनुकरण करने में पहलेघाले कार्य के प्रायः समान ही बादवाला काम होता है । इसमें किसी प्रकार की नूतन चेष्टा के लिये उद्योग नहीं किया जाता है, सुतरा अपनी प्रतिभा की उच्चति कठिनता से होती है । यह बात शिल्प, साहित्य, विज्ञान, सामाजिक कार्य तथा मानसिक अभ्यास सब ही में सत्य है ।

मनुष्य के देह धारण का यह मुख्य प्रयोगन हैं कि उसकी शारीरिक और मानसिक वृत्ति की सामकालिक तथा यथान्वित स्फूर्ति और उद्धति होती रहे । इन वृत्तियों में से अनेक उसकी सहायक होती हैं तथा कई अनिष्टकर भी होती हैं । मनुष्य अनेक हैं और प्रत्येक मनुष्य के लिये सुख भी बहुत प्रकार का है । उन्हीं सुखों की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के उपायों के करने की आवश्यकता होती है । भिन्न भिन्न प्रकृति के लोग अनेक भाँति के उपाय करते हैं, इसलिये संसार में प्रवृत्ति-वैचित्र्य, कार्य-वैचित्र्य और चरित्र-वैचित्र्य देखने में आता है । अनुकरण-प्रवृत्ति का यह फल होता है कि अनुकरण करने वाला अपने आदर्श की प्रवृत्ति, उसकी कार्य-परिपाठी और चरित्र के बाहर कठिनता से जा पाता है । जब समाज का समाज एक किसी कार्यक्षम मनुष्य का अनुकरण करने लगता है, तब विविच्छिता का नाश ज़रूर हो जाता है । इस दशा में मनुष्य-चरित्र में सर्वाङ्गपूर्ण स्फूर्ति नहीं होने पाती है, सब प्रकार के कार्य नहीं हो सकते हैं, और मनुष्य को सब तरह का सुख नहीं मिलता है—मनुष्यत्व असम्पूर्ण रह जाता है, समाज असम्पूर्ण रह जाता है, और मनुष्य-जीवन असम्पूर्ण रह जाता है ।

अल्ल मैं यह सदा ध्यान रखने के थेम्ब है कि प्रतिभाशाली अनुकरण ही आशा है । इससे अच्छे फलों की आशा रहती है । अनुकरण की अवस्था के समाप्त होने पर स्वतन्त्रता भी अपने

आप आ जाती है। यदि आवश्यक समर्ग के हो जाने पर भी अनुकरण-प्रवृत्ति बलवती बनी रहे, तथा स्वतन्त्रता न आये, और मनुष्य ने स्वयमेव अपने लिये उसे समुचित बना कर विनियता न पैदा कर ली हो, तो यह नीच अनुकरण-प्रवृत्ति सर्वनाश का कारण हो सकती है और अत्यन्त निष्ठनीय तथा सर्वधात्याज्ञ है।

३—प्राचीन समय की भलक ।

द्रौपदी । *

(१)

हे पुराने या नये जिस किसी हिन्दू-काव्य में
चाहे देखिए सब आदर्श नार्यकाओं और स्त्रियों
के चरित प्रायः एक ही साँचे में ढले हुए पाये
जायेंगे । अपने अपने पतियों में रत, लज्जा-
युक्त, सहनशील, और कोमल स्वभाववाली ललनापैं ही
आदर्श मानी गयी हैं । इसी गठन के अनुसार महाकवि
शालमार्कि ने विश्वविमोहिनी सीता के चरित को खींचा है ।
शकुन्तला, दमयन्ती, रत्नावली आदि उन्हीं जानकीजी की छाया-
मात्र हैं । किसी दूसरी भाँति की स्त्रियाँ हमको अपने यहाँ
काव्यों में बहुत कम दिखायी पड़े गी । जहाँ देखिए वहाँ सीता
ही के अनुकरणों की भरमार है । आज भी जो लोग कोई नाटक
या उपन्यास लिखने बैठते हैं वे भट से उसी जनककुमारी का
चित्र उतार लेते हैं । इस बात के कई एक कारण हैं । एक तो

* आवटोबर १६०८ । तार १६-१०-१६०८ का “अभ्युदय” ।

सीताजी का चरित्र अल्पत मधुर है, दूसरे आर्थ-जाति के मनुष्यों में इसी भाँति के जीवन की बड़ी प्रशंसा की जाती है, और तीसरे यह कि आर्थ्यललनाओं में इसी प्रकार का चरित्र सबसे ऊँचा गिना जाता है ।

केवल द्रौपदी में कहाँ सीताजी की छाया का भी पता नहीं है । चतुर महाभारतकार ने इस द्रौपदी में एक नये प्रकार की नायिका का चरित्र संगठित किया है । सीता सब सती लिखियों में बहुत बढ़कर मानी जाती है, और पाँच पतिवाली द्रौपदी को भी श्रीबेदव्यासजी ने सती कह कर लिखा है । ईंक भी यही है । कवि का वास्तविक अभिप्राय यह है कि पति चाहे एक हां और चाहे पाँच हाँ, खी के लिये पति की उपासना ही उसके सतीत्व की पहचान है । सीता और द्रौपदी दोनों ही पहली ऐरार रानी के रूप में अपने अपने काम में तत्पर हैं और धर्मलिप्ति हैं । इन में केवल इतनी समता है कि ये दोनों ही रानियाँ और कुल-वधू हैं, परन्तु सीता रानी होते हुए भी विशेषतया कुल-वधू हैं और द्रौपदी कुल-वधू होते हुए भी विशेषतया रानी है । सीता में लिखियों के सब कोमल गुण दिखायी पड़ते हैं और द्रौपदी में खी-जाति के समस्त कठिन गुण—प्रचंडता और तेजस्विता—साफ़ चमक रहे हैं । सीता श्रीरामचन्द्रजी के योग्य पत्नी थीं और द्रौपदी भीम के लिये सुयोग्य वीरेन्द्राणी । सीता को हरते समय राक्षस-राज राघव को कुछ भी क्लेश नहीं उठाना पड़ा था परन्तु यदि कहाँ द्रौपदी को हरने के लिये लंकेश आये होते, तो वह कीचक की तरह

अपने प्राण खोते अथवा जयद्रथ की नाई धरती पर पटक दिये जाते ।

पहले पहल द्रोपदी के स्वयंवर में आइए । राजा द्रुपद की पत्नी का यह प्रश्न था कि जो कोई दुर्बेध लक्ष्य में निशाना मार सकेगा उसी के साथ द्रोपदी का विवाह होगा । कन्या द्रुपदसुना सभा-मंडप में लायी गयी । दुर्योधन, जरासन्ध, शिशु-पाल आदि बड़े बड़े शूरवीर राजा पाण्डित्यहण की लालसा से इकट्ठा हुए । एक एक करके सब ही निशाना लगाने को उठे, परन्तु किसी को भी सफलता न मिली । अन्य राजाओं के बीच में अङ्ग देश के राजा कर्ण भी लक्ष्य बेधने के लिये तैयार हुए । अब यहाँ पर काव्य रचनेवाले की चतुरता देखिए । उसका प्रयोजन तो यह है कि पाण्डवों के साथ द्रोपदी का व्याह होगा । अब बड़ा संकट उपस्थित हुआ । यदि कहो कर्ण ने निशाना मार लिया, तो फिर पांडवों के साथ विवाह कैसा ? यदि कोई छाटा-मोटा कवि होता, तो उसने कर्ण को भी लक्ष्य-बिंधन में अशक्त कह दिया होता, परन्तु वास्तव में कर्ण ही की तेजस्विना और वीर्य अर्जुन के पराक्रम का मानदंड है । कर्ण के प्रतिपक्षी होने भी उनको हरा देने ही से महाभारत के अधान नायक अर्जुन के गौरव की इतनी अधिकता है । किसी अन्य क्षुद्र कवि ने कर्ण को इस स्वयंवर में उठाया ही न होता, परन्तु ऐसा करने से काव्य की सर्वाङ्ग-सम्पन्नता में अवश्य दोष आ जाता । जहाँ पर सुवदना सुन्दर कुमारी के

लालच से सब राजा निशाना मारने को उठे थे वहाँ केवल कर्ण ही क्यों न उठते ?

महाभारतकार ने बड़े कौशल से लक्ष्य बेघने के लिये बल-शाली कर्ण को उठाया और उसके महापराक्रम को भी पहिले ही के समान अविच्छिन्न रखका । उन्होंने उसी समय और उसी उपाय से एक और बड़े भारी अर्थ को सिद्ध कर लिया—द्रोपदी के चरित्र को भी साफ़ तैर से प्रकट कर दिया । यदि और कोई कन्या होती, तो विशाल सभामंडप में बड़े बड़े राजाओं, वीरों और ऋषियों को देख कर चुपचाप बैठी रहती, किन्तु कुमारी द्रोपदी, कर्ण को निशाना लगाने के लिये नैयार देख कर तथा अपने पिता राजा द्रुपद और भाई धृष्टद्युम्न की रक्ती भर भी चिन्ता न करके, साफ़ बोल उठी:—“हम इस सूत के लड़के के साथ कदापि न विवाह करेंगी ।” यह सुनते ही कुद्द होकर कर्ण बैठ गये । हैरिय यहाँ पर कवि ने कैसी चतुरता से राजकुमारी के दुर्दमनीय दर्प को प्रकाशित किया है ।

इसके बाद जुआ में जीत ली गयी द्रोपदी के चरित्र को देखिये । तैजस्वी और अभिमानयुक्त भीम, अर्जुन आदि ने अपने को जुए में हारने के बाद चूँ तक न किया था और दुर्योधन की अधीनता स्वीकार कर ली । यहाँ पर पतिपरायण पत्नी के लिये अपने स्वामी की तरह अधीन हो जाना ही उचित था, परन्तु दुर्योधन की सभा में अपना बुलावा सुन कर द्रोपदी ने तुरन्त संदेसा लानेवाले से कहला भेजा:—“चहाँ सभा में

जाकर युधिष्ठिर से पूछा कि क्या वह सच-मुच अपने को और हमको जुए में हार गये हैं । इस हाल के पूरे तौर से जान कर हमको यहाँ से ले जाना । धर्मराज किस तरह से हार गये हैं यह जान लेने के बाद हम तुम्हारे साथ चलेंगी ।” द्रौपदी का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि हम थकायक अश्रीनता न स्वीकार करेंगी । द्रौपदी के चरित्र में धर्मचरण और दर्प स्पष्टतया भलक रहे हैं । यहाँ पर हम दर्प को गर्व के अर्थ में नहीं, बरन तेजस्विता के अर्थ में लेते हैं । यह दर्प द्रौपदी में पूरी मात्रा से विराजमान था और जैसा साधारणतया देखने में आता है उसके धर्म का विरोधी न होकर एक पक्के सहायक का काम दे रहा था ।

सभा में आने पर द्रौपदी का दर्प और भी अधिक प्रकाश को प्राप्त हुआ । वह दुःशासन से बाली:-“यदि इन्ह तक तेरी सहायता करने को तैयार हों, तो भी राज-पुत्र लोग तुझे न क्षमा करेंगे ।” इसने अपने स्वामियों को और इशारा करके कहा:-“प्रतीत होता है कि क्षात्र धर्म एक बारही नष्ट हो गया है ।” और भीष्म आदि बड़े लोगों की ओर देख कर कहा:-“जान पड़ता है कि भीष्म, द्रोण और महात्मा विदुर का कुछ भी अधिकार इस सभा में नहीं है ।” यह सब होते हुए भी अबला का तेज बहुत देर नहीं रुक सकता है । जिस समय कर्ण ने द्रौपदी को देश्या कह कर इंगित किया और दुःशासन ने उसका चीर खींचना आरम्भ किया, तब द्रौपदी की प्रभा क्षीण हो गयी । भय खाकर उसने असंहाय अवस्था में अशारण-

शशि कुष्ण का स्मरण किया:—“हा नाथ ! हा रमानाथ ! हा व्रजनाथ ! मैं कौरव-सागर में दूच रही हूँ । मुझे जल्द आ कर उबारो !” यहाँ पर कविष्ठेषु श्रीवेदशासनी ने अपनी योग्यता का चूड़ांत परिचय दिया है ।

आगे चल कर द्रौपदी के चरित्र को देखिए । जब हर ले-जाने की इच्छा से काम्यक वन में जयद्रथ अकेली द्रौपदी के पास आया, तब पहले तो उसके अभिप्राय को न जान कर द्रुपदसुता ने उसकी अतिथि-सेवा की, परन्तु ज्योही जयद्रथ ने अपनी दुष्ट इच्छा को प्रकट किया, त्योही बाधिन के समान गर्ज कर द्रौपदी ने उसको अपनी तेजस्विता का परिचय दिया । जयद्रथ ने इस पर कुछ भी नहीं ध्यान दिया और बलात्कार से उसे पकड़ने का यज्ञ किया । एक बार तो इस पिशाच राजा को भीम और अर्जुन की धीरपत्नी ने अपने भुज-बल के प्रताप से धरातल पर गिरा दिया, किंतु उसके बाद जयद्रथ ने बलपूर्वक द्रौपदी को रथ पर बिठा लिया । उस समय रोना और चिलाप करना धीरांगना के लिये अनुचित था । सिर-चित्त और निर्भय हो कर वह रथ पर बैठ गयी । जब थोड़ी ही देर के पीछे जयद्रथ ने पांडवों के विषय में प्रश्न किये, तब वह निश्चांक होकर दर्प के साथ अपने स्वामियों का गुण घर्णन करने और उनका परिचय देने लगी । उसे इस बात का रक्ती भर भी भय न हुआ कि मैं जयद्रथ के ही रथ पर बैठी हूँ । यह प्रसंभ महाभारत में बारंबार पढ़ने के योग्य है ।

द्रौपदी । *

(२)

द्रौपदी के चरित्र के सम्बन्ध में एक बड़ा ही जटिल प्रश्न है । यह नव्य सचमुच उसके जीवन की मध्य श्रन्थि है, ऊपरी ऊपर यह बहुत प्रकाशवान् ज्ञान पड़ता है । वह प्रश्न यह है कि एक ही लड़ी के पाँच पति हुए और उसे कुलटा कहने का कोई गास्ता नहीं मिलता है । हमारे योरोप-देशीय विद्वान् लोग इसका बड़ा कौतुक-पूर्ण उत्तर देते हैं । वे कहते हैं कि भारतवासी लोग जङ्गली थे और पहले इनमें स्त्रियों के बहुत व्याह दुआ करते थे, इसी कारण से पाँच पांडवों की केवल एक ही पत्नी थी । योरोप के आचार्य लोग और देशों के बारे में चाहे चुप भी रहें, परन्तु ये इस देश के बारे में मज़ेदार और ऊटपटांग बातें कहने से नहीं चूकते हैं ।

श्रीबंकिमचन्द्रजी कहते हैं:—“हमारा यह विश्वास है कि संस्कृत-साहित्य के बारे में जो कुछ योरोप के विद्वानों ने लिखा है उसके और उनके बनाये हुए वेद, दर्शन, पुराण, काव्य आदि के अनुवाद, टीका और समालोचना के पाठ करने की अपेक्षा साहित्य-संसार में बढ़ कर महापातक नहीं हो सकता है । मूर्खता उपस्थित करने के लिये इससे सहज दूसरा उपाय नहीं है ।” ऐसे ही एक दूसरे साहब ने एक पुराने मकान में

* आयटोयर १६०८ । ता० ३०—१०—१६०८ का “आम्बुद्य” ।

नंगी खो की मूर्ति को देख कर यह सिद्धान्त निकाला था कि पहले आर्थ-जाति की सब खियाँ नंगी ही रहती थीं । यहाँ साहब लोगों के विचित्र सिद्धान्तों के विषय में हमें प्रसंगवश ही कुछ कह देना पड़ा है । विशेष कहने के लिये यह स्थान उचित नहीं है ।

अब हम फिर घही द्रौपदी के पाँच पतिवाला जटिल प्रश्न अपने हाथ में लेते हैं । इतना विचार कर लेना आवश्यक है कि चतुर कवि एक ऐतिहासिक घटना को विचित्र बनाने के लिये अपनी ओर से भी थोड़ी-बहुत कठपना करता है, परन्तु महाभारत की मुख्य कथा इतिहास ही है, इसमें ऊपरी कलना की आशंका कैसी ? यह सत्य है, किन्तु जब कवि ही इतिहासकार है और इतिहासकार ही कवि है, तब काव्य और इतिहास का मेल सब प्रकार से समझ है । सत्य कथा में भी कवि कुछ नमक-मिर्च ज़खर मिला देता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । इस तत्त्व को ध्यान में रखते हुए द्रौपदी-विषयक समस्या को समझना उचित होगा ।

द्रौपदी को छोड़ कर आर्थ लोगों के ग्रन्थों में कोई दूसरा बहु-विवाह का उदाहरण नहीं मिलता है । इस दशा में केवल एक उदाहरण से यह सिद्धान्त निकालना कि पुरानी आर्यजाति में बहु-विवाह प्रचलित था स्पष्ट रूप से असंगत है । यह ठीक वैसे ही है कि यदि किसी देश में एक छः अङ्गुलीधाला या जल्मान्ध मनुष्य पैदा हुआ हो और उससे इस बात के सिद्ध करने का

प्रयास किया जावे कि उस देश में सब लोग छः अँगुलीवाले अथवा जन्म ही से अन्धे हैं । महाभारत में इस पाँच पति-वाली विचित्र बात को पहले जन्म के पापों का फल बतला कर काव्य-रचयिता ने इसकी अनुचित दशा का थोड़ा-बहुत समाधान किया है । जो प्रथा समाज में निष्ठनीय मानी जाती हो और कहीं भी प्रचलित न हो उसका पाण्डवों के तुल्य सत्कुल में पाया जाना निस्सन्देह आश्चर्य की बात है, इसलिये प्रतीत होता है कि इस समस्या में कोई न कोई गूढ़ अभिप्राय अवश्य चर्तमान है ।

कई एक ऐसी बातें हैं जो इस पाँच पतिवाली समस्या में किसी गहरे आशय को छिपा हुआ प्रमाणित करती हैं । द्रौपदी के पाँच स्वामियों से पाँच घौरस लड़के हुए । किसी के दो या तीन घौरस पुत्र क्यों नहीं हुए ? किसी के घौरस कन्या भी क्यों नहीं हुई ? उन पाँचों में से कोई निस्सन्तान ही क्यों नहीं हुआ ? उनमें से सब ही क्यों मार डाले गये ? वे सब एक ही बार अश्वतथामा के हाथ क्यों मारे गये ? दूसरे पक्ष में अभिमन्यु, घटोत्कच घौर बभुवाहन क्यों जीवित रहे ? यह प्रश्न हो सकता है कि यदि द्रौपदी के पाँच पतिवाली बात में कोई छिपा हुआ रहस्य है घौर द्रौपदी वास्तव में केवल युधिष्ठिर की पत्नी थी, तो क्या घौर चार पाण्डवों के ब्याह नहीं हुए थे ? इसका उत्तर सचमुच कुछ कठिन जान पड़ता है ।

हम लोग यह जानते हैं कि भीम और अर्जुन के और विवाह हुए थे, परन्तु महाभारत से यह नहीं ज्ञान होता है कि नकुल और सहदेव के भी और व्याह हुए थे । केवल महाभारत में न मिलने से हम यह सिद्धान्त नहीं मान सकते हैं कि इन दोनों के दूसरे विवाह हुए ही न थे, क्योंकि महाभारत में युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम मात्र प्रधान नायक हैं, और शेष दो नकुल तथा सहदेव उनकी छाया की तरह रहते हुए सब काम करते हैं । यदि उनके विवाह हुए भी हों, और कथा-सम्बन्ध में इस विषय को प्रयोजन-रहित जान कर काव्य-रचयिता ने इसे छोड़ दिया हो, तो क्या आश्चर्य है ? इससे यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि दोपदी वास्तव में युधिष्ठिर की पहचान थी और अन्य चार पाण्डवों के और और भी विवाह हुए थे ।

अब यदि हम इस पाँच पतिवाली जटिल समस्या को महाभारतकार की भावना मात्र समझें, तो यह प्रश्न हो सकता है कि यूह अभिप्राय से कवि ने क्यों ऐसी विस्मयकारी कल्पना की ? यदि कोई बड़ा गहरा सिद्धान्त इसकी ओट में न होता, तो श्रीवेदव्यासजी ने ऐसा कुटिल मार्ग ही न स्वीकार किया होता । यदि साहब लोगों की तरह आप भी न कहने लगिए कि “छि ! यह तो बहु-विवाह का खासा नमूना है,” तो आइए आप और हम इस यूह आंशय को समझने का याद करें ।

पहले पहल किसी भी कवि ने निर्लिप्तता का आदर्श बनाने का यत्न नहीं किया था । श्रीवेदव्यासजी ने बड़े परिश्रम के साथ भगवान् श्रीकृष्ण को इस निर्लिप्तना-रूपी शक्ति से सम्पन्न करके अपनी चतुरना का परिचय दिया है । केवल एक ही नहीं, उन्होंने और भी दो-चार ऐसे चरित्र संगठित किये हैं कि जिनमें इसी निर्लेप की भाषा स्पष्ट भालक रही है ।

निर्लिप्तता और वैराग्य का जो कुछ भर्म हमारे विचार में आया है उसे हम नीचे लिखे हुए गीता के श्लोक के अर्थ से स्पष्ट रीति से प्रफृट करते हैं:—

“आसक्ति और विद्वेष से रहित तथा अपने वश में घर्तमान सकल इन्द्रियों के द्वारा (इन्द्रियों के) सब विषयों का उपभोग करके संयमी आत्मा शान्ति को प्राप्त होता है ।”*

इसके अनुकूल निर्लेप के हेतु इन्द्रिय-विषयक उपभोग को रोक देने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु उसे रोकने ही से आसक्ति से छुटकारा मिलता है, क्योंकि जब आत्मा किसी विषय में आसक्त है, तब उसके वर्जन के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है । वास्तव में जो लोग इन्द्रियों के विषयों का उपभोग करते हुए भी अनुराग-शून्य हैं और जिन लोगों ने सचमुच

* “रागद्वे पवियुक्तैस्तु विपयानिन्द्रियैश्वरन् ।

आत्मवश्यैवि धेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥”

सकल इन्द्रियों को वश में कर लिया है वे ही निर्लिपि हैं । ऐसे लोगों की आत्मा के साथ भोग्य विषयों का विशेष सम्पर्क नहीं रहता है और वे ही पाप और दुःख के परे हो जाते हैं ।

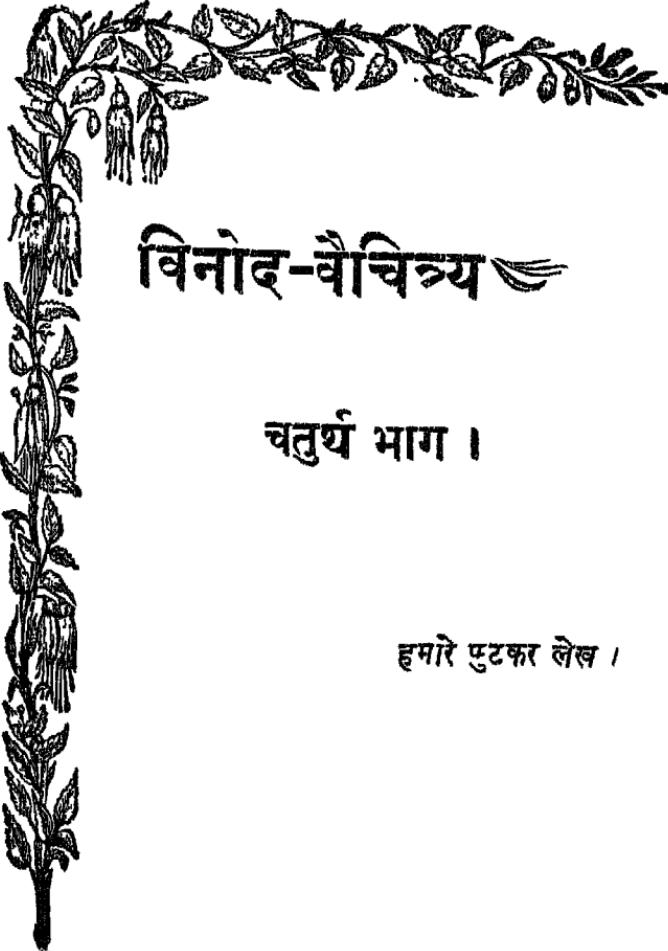
इस प्रकार सं निलेंप या अनासंग को स्पष्ट करने के लिये हिन्दू शास्त्रकार एक और कौशल का सहारा लेते हैं । वे निर्लिपि मनुष्य को बहुतायत से इन्द्रिय-भोग्य विषयों के द्वारा धेर देते हैं । इसी कारण से पुराण-रचयिता ने भगवान् श्रीकृष्ण को असंख्य ललनाशों के द्वारा परिवेषित किया है; इसी से तान्त्रिक लोगों की अनुष्टान-पद्धति में अधिकतर इन्द्रिय-भोग्य पदार्थ इकट्ठा किये जाते हैं । वास्तविक प्रयोजन यही है कि अनेक भोग्य वस्तुओं से धिर कर भी जो उनमें आसक्त न हो वही निर्लिपि है । विशेषतया इसी कारण से द्रौपदी के भी पाँच स्वामी हैं । खियों में द्रौपदी को निर्लिपिता की साक्षात् मूर्चि समझिए । इसी रूप में श्रीवेदव्यास ने द्रौपदी के अरित को संगठित किया है । इसी कारण से यह वेश्या की तरह पाँच पुरुषों से संसर्ग रख कर भी सती कही जाती है । द्रौपदी के लिये पाँचों पति केवल एक पति हैं; वे उपासना की एक ही वस्तु हैं और धर्माचरण के लिये एक मात्र साधन हैं । जैसे सब्दे धर्मात्मा के लिये असंख्य देवता एक मात्र पूजनीय लक्ष्य हैं, और ज्ञानी के लिये ब्रह्म ही एक मात्र उपास्य है, ठीक वैसे ही निर्लिपि द्रौपदी के लिये पाँचों पति केवल एक धर्माचरण स्वल हैं । द्रौपदी गृहधर्म में निष्काम, निश्चल और निर्लिपि होकर अपने काम में प्रवृत्त

है। यह धर्म ऐसा वैसा नहीं है; वास्तव में इसका पालन करना बड़ा कठिन काम है। इसी बात को महाभारतकार ने महा-प्राणानिक पर्व में ४८षु किया है। वहाँ पर उन्होंने यह साफ़ बतला दिया है कि इस भाँति का निर्लिंस धर्म कितना दुष्कर है। स्वर्ग-रोहण के लिये बलते समय द्वौपदी ने अर्जुन पर कुछ अधिक प्रेम प्रकट किया। केवल इसी पाप—इसी छोटी सी भूल के हो जाने—से अब तक अत्यन्त निर्लिंस द्वौपदी को सब से पहले अपने शरीर से हाथ छोना पड़ा।

अब देखिए कि द्वौपदी के पांच पतियों से एक ही एक औरस लड़के के होने का क्या कारण था। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार पुत्र पैदा करना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है। पुत्र पैदा होने ही से व्याह सफल होता है। ऐसा न होने से धर्म अधूरा रह जाता है। केवल एक ही लड़के के होने से धर्म का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। एक से अधिक लड़के का पैदा होना धर्म के लिये आवश्यक नहीं है; वह फिर केवल इन्द्रिय-तृप्ति का फल मात्र है। गृहस्थ धर्म को पूरा करने के लिये प्रत्येक पति से एक एक औरस पुत्र पाकर एक प्रकार से निर्लिंस द्वौपदी का सम्बन्ध अपने पतियों से टूट गया। पतियों के धर्म को पूर्ण करने के लिये उसने ऐसा किया और बाद को फिर दूसरा गर्भ नहीं धारण किया। इस विषय में कवि की कल्पना का यही प्रयोजन है।

इस समस्या का ऊपर कहा हुआ समाधान बड़ी सूखमता के साथ समझने के योग्य है। हिन्दुओं की पवित्र बुद्धि इस

विषय का शुद्ध हष्टि से देख कर इस समाधान की गमीरता का अनुभव कर सकेगी । महाभारत ही में श्रीवेदव्यास ने इस पाँच पतिवाली बात को द्रौपदी के पहले जन्म में किये हुए अदृष्ट पापों का फल बतलाया है । जो कुछ द्रौपदी की अदृष्ट घटना हुई थी उससे बढ़ कर खी के लिये महापाप और कुछ नहीं हो सकता था, परन्तु एक बात के मध्ये आ पड़ने से उसका निर्वाह करना ही उचित है । पाँच पतिवालों के साथ अपना जन्म काटने के लिये द्रौपदी को उसके महापापों ने जाल्य किया, तब यह काम द्रौपदी ही के समान निर्लिप्त ललना का था कि सच्चे और पूरे धर्म के साथ उसने अपना जीवन व्यतीत किया । तात्पर्य यह है कि चित्त-शुद्धि हो जाने से महापातक में पड़ने पर भी किसी को पाप नहीं छू सकता है । द्रौपदी का चित्त शुद्ध हो गया था, इस कारण से इतने बड़े पाप में भी गिर कर इसने उस महापातक को धर्म रूप में परिणत कर दिया ।



विनोद-वैचित्र्य

चतुर्थ भाग ।

हमारे पुस्टकार लेख ।



१—सफलता के लिये दो ज़रूरी बातें ।*

हले पहल यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि सफलता क्या चीज़ है । प्रायः यही देखने में आता है कि किसी काम या किसी बात के अपनी आशा और गन के अनुकूल हो जाने ही को मनुष्य मात्र सफलता मानता है । इस दशा में नीच और अधिवेकी मनुष्यों की सफलता औरों के लिये हानिकारक होती है । ऐसे ही उदार और विचार-शील लोगों की सफलता इनका हित करने के साथ ही यदि औरों का उपकार नहीं करती है, तो उन्हें हानि भी नहीं पहुँचाती है । सफलता पाने से मनुष्य का उत्साह दूना और चित्त आनन्द से प्रफुल्लित होजाता है । आशा के अपूर्ण होने से या अभीष्ट के असिद्ध रहने से उसका हृदय टूट जाता है, तथा उसके हाथ और पैर मानों फूल से जाते हैं । जब तक अनिष्टकारी सफलता अपूर्ण रहती है, तब तक सब की भलाई होती है । इससे यह भी सम्भव है कि दुष्ट मनुष्य बारम्बार

* फूरवरी १९०६ । अमुद्रित । युनर्लिंगित पुर्व विस्तृत । स्वतन्त्र; स्वामी रामतीर्थ और सैमुप्ल स्माइल्स के कुछ भावों को लेकर ।

असफल होकर और अपना चरित्र ठीक करके सचमुच सज्जन बनने का यज्ञ आगम्भ करदे । अब यह अनायास ही समझ में आ जायगा कि विवेक-पूर्ण और हितकर सफलता ही सच्ची सफलता है । वास्तव में मनुष्य को इस प्रकार की सफलता के लिये चैष्टा करनो चाहिए जिसमें अपना और यथा-सम्भव दूसरों का भी अवश्यमेव उपकार हो । यदि ये दोनों बातें न सम्भव हैं, तो अपना ही उपकार हो, परन्तु यह अवश्य सदा ध्यान में रहे कि उससे दूसरों का अहित या आनिष्ट किसी दशा में कभी न हो । इसी लक्ष्य को अपने सामने रख कर हमें सर्वदा अपनो सफलता के लिये प्रयत्न करना चाहिए । इस सम्बन्ध में (१) “समय का सदुपयोग” और (२) “जीवनोद्देश्य का सामाधिक निश्चय” ये दो अत्यावश्यक बातें हैं, इससे अब हम हन पर विचार करेंगे ।

१—समय का सदुपयोग ।

हम अभी तक यह सुनते आये हैं कि संसार में मनुष्य खाली हाथ आता है और खाली हाथ जायगा, परन्तु वास्तव में इसका पहिला अंश सच नहीं है । यह समझ में कभी नहीं आता है कि प्रकृति देवी प्राणी-माणि को बिना किसी प्रकार की पूँजी दिये हुए इस संसार में ढाल देती है । यदि ध्यान से देखिए, तो ज्ञात होगा कि वह हम सब को ऐसा अमूल्य धन

देकर यहाँ उत्पन्न करती है जिसका सदृश्य करके हम विद्या, शिल्प, अनुभव, रूपया-पैसा, मान, गौरव इत्यादि सभी कुछ पा सकते हैं—इतना ही नहीं, बरन अपना समस्त जीवन सफल बना सकते हैं । यदि प्राकृतिक धन में कोई दोष है, तो केवल इतना ही है कि एकबार उसके किसी अंश या उसकी कुल पूँजी को खोकर हम चाहे कुछ करें, परन्तु वह लैटकर फिर हमारे हाथ आने का नहीं है । इसी बात को सदा स्मरण—नहीं, नहीं, सदा नेत्रों के सामने—रखकर हमें इस प्राकृतिक धन के छोटे से भी छोटे अंश को पूर्णतया अपने उपयोग में लाना चाहिए । कितने बड़े शोक का विषय है कि फिर लैट कर न मिलनेवाले इसी धन को लाखों मनुष्य पानी की तरह बहाते रहते हैं और क्षण भर भी यह नहीं सोचते हैं कि रूपया और पैसा खो जाने से परिश्रम करने पर फिर मिल सकता है, परन्तु यह प्राकृतिक समर्पित हाथ से निकल कर सदा के लिये चली जाती है । अपने हृदय-पट पर स्वर्णाक्षरों में लिख लीजिए कि यह धन प्रकृति का दिया हुआ समय है और इसकी अमूल्यता के विषय में जो कुछ कहा जाय वही थोड़ा है ।

इस समय में इस दोष के सिवा कि यह जीत जाने पर फिर हमें नहीं मिल सकता है, दूसरा दोष यह भी है कि हम लोग कोई भी निश्चय के साथ नहीं कह सकते हैं कि इसकी कितनी मात्रा हमें दी गयी है । कोई नहीं जानता है कि अमुक मनुष्य १०

वर्ष जियेगा या १०० वर्ष, अथवा आज ही दो घंटे के बाद
मर जायगा । पलक मारते ही भले-चंगे आदमी काल के गाल
में चले जाते हैं, और महारोगी मनुष्य, जिनके शरीर में सिवा
हड्डी और चमड़े के कुछ भी नहीं रह गया है, बरसाँ तक चार-
पाई पर पड़े रहते हैं । इस विचित्रता को देख कर स्वस्थ से
भी स्वस्थ मनुष्य यह निश्चय के साथ नहीं कह सकता है कि
मैं इतने वर्ष और इस समय का उपयोग कर सकूँगा—जीवित
रह सकूँगा । ऐसी दशा में किसी को भी अपने समय की
सम्पत्ति की मात्रा का ठीक ठीक पता नहीं लग सकता है,
अनुमान से एक बात का कह देना विश्वासयोग्य नहीं है ।
हमें इसको विशेष-दायित्व-पूर्ण और अत्यन्त कोमल धन सम-
झना चाहिए, क्योंकि यह लौट कर कभी नहीं आता है और
कोई नहीं जानता है कि यह किस समय समाप्त हो जायगा ।

हमें समय का अपव्यय देख कर बड़ा दुःख होता है । इसी
अमूल्य सम्पत्ति के विषय में लोग कह उठते हैं कि “भाई, समय
काटे नहीं कटता, आओ, इसकी हत्या करें ।”* राम ! राम !
ऐसे धन की हत्या जिसका मूल्य असंख्यों रुपयों से भी न जाने
कितना ज्यादा है । इसको निहपयोगी कामों में लगाना इसका
दुरुपयोग करना है, इसे चुथा नष्ट करना इसकी अवहेलना
करनी है, और इसका दुर्ब्यसन में अपव्यय करना निःसन्देह

* “Time is hanging heavily on our heads. Come, let us kill it.”

इसकी हत्या करना है । जो मनुष्य इसका आदर नहीं करते हैं उन्हीं के नेत्रों में नैराश्य और सन्ताप के बरछे छेदते हुए यह खला खलाकर उनके प्राण निकालता है और उनसे अपने दुरुपयोग, उपेक्षा, या हत्या का बदला लेते हुए उनका दूसरा जन्म भी बिगड़ देता है । समझ में नहीं आता है कि जब हम एक एक पैसे का हिसाब लिखते रहने में हज़ारों सफ़ा काग़ज़ रँग डालते हैं, तब इस अमूल्य समय के लेखे के लिये क्या एक मिनट भर विचार कर लेना भी हमारे लिये पाप है ? जो मनुष्य अपने समय के पूर्ण सदुपयोग पर निरन्तर ध्यान रखेगा वही अपना, अपनी जाति और अपने देश का सच्चा कल्याण कर सकेगा । दूसरे में यह शक्ति तक न होगी कि वह उसके सामने अपनी आँखें डाला सके । जिस प्रकार से जो मनुष्य अपना रुपया और पैसा दुर्व्यसन में पूँक देता है उसका मुँह काला हो जाता है, वैसे ही जो कोई बुरे विचारों में, बुरे स्वभावों में और बुरे कामों में अपने मूल्यवान् समय को नष्ट करता है उसका सारा जीवन काला हो जाता है ।

अशिक्षित लोग तो गये ही बीते हैं, कभी कभी ऐसे शिक्षित मनुष्य हमारे देखने में आये हैं जो सरगर्मी के साथ इस बात पर जहस करने को तैयार हो जाते हैं कि यदि हम जीवन भर पैसाना लेकर समय को नापने लगें और उसके सदुपयोग का लेखा ठीक रखने का यज्ञ करें, तो जीवा तक कठिन हो जायगा, हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जायगा और बिना विनोद की

सामग्री के और हँसी-खेल में कुछ समय बिनाये हुए उपयोगी कामों के करने में चित्त ही न लगेगा । यह तर्क सर्वमान्य है, परन्तु इसके प्रयोग में भूल करने से रंग में भंग हो जाता है । जब हम इन्हों मनुष्यों में से अनेक का विनोद में समय बिनाते हुए देखते हैं, तब हम किसी को नाच और रंग में, किसी को अश्लील हँसी और खेल में, किसी को प्रमदा-प्रमोद और सुरा-पान में, किसी को जुआ और ताश के पत्तों में, तथा किसी को निद्रा और विलासिता में निमग्न पाने हैं । कहिए क्या विनोद और कार्य का यही विभाग है ? क्या यही स्वास्थ्य को ठीक रखने का उपाय है ? क्या यही चित्त को हृद करेगा ? क्या यही जीवन को सफल बनायेगा ? कभी नहीं, यह निरी भूल है ।

हम हर समय काम में लगे रहने के एकदम विरुद्ध हैं, परन्तु शरीर का स्वस्थ, चित्त का सचल, हृदय का पुष्ट, और मन को प्रसन्न बनाने के लिये जा विनोद या व्यायाम हो चह परिष्कृत हो, पवित्र हो, शिष्ट हो, स्वास्थ्यवर्धक हो, सुखकारक हो, उच्चत हो और सर्वधा लाभदायी हो ; जब परिश्रम के साथ उपयोगी कार्य यथासमय किये जायँगे, तभी विनोद भला मालूम होगा । क्या चित्त को बहलाने के लिये और तकान को दूर करने के लिये प्रकृति-निरीक्षण, वायु-सेवन, पवित्र संगीत, पैदल टहलना, घाड़े की सघारी, तेरना, नाच खेना, वाटिका में शारीरिक परिश्रम, अन्य उत्तम खेल और कूद—जैसे क्रिकेट, फुटबाल, हाकी, और टेनिस, मिठों के साथ शिष्ट हास्य, अपने

बच्चों और अपनी पढ़ी के साथ प्रेमपरिपूर्ण कौतुक और चार्चिवनोद इत्यादि हमारे पास बहुत पर्याप्त सामग्री नहीं हैं जो काम करने के बाद सब तरह से हमारे समय के सदुपयोग ही का कारण बनेगी ?

पूरे तौर से समय का सदुपयोग करने के लिये हमें उसका उचित विभाग अवश्यमेव कर लेना चाहिए । जिन निश्चित रूप से टीक समय पर काम किये हुए सभी प्रकार से गड़बड़ रहेगा और प्रायः जीवन भर में मनुष्य कुछ न कर सकेगा । हम यह स्पष्टतया बतला देना चाहते हैं कि अपने, अपने कुटुम्ब, अपनी जाति और अपने देश के सच्चे कल्याण के लिये जीतोड़ यत्त करने में, परिश्रम के बाद उचित समय के लिये परिव्रत और स्वास्थ्यकर विनोद में, तथा रात्रि के समय ९ बजे से प्रातःकाल ५ बजे—पूरे ८ घंटों—तक अच्छी तरह से सोने में समय का उत्तमतया व्यतीत करना हसका वास्तविक सदुपयोग है । यदि मनुष्य दिन और रात में अपने सुभीते के अनुकूल ८ घंटे उचित और उपयोगी परिश्रम में, ८ घंटे अन्य ऐतिक क्रत्य और विनोद में, तथा शेष ८ घंटे सोने में विताता रहे, तो यह एक प्रकार का बहिर्या समय-विभाग होगा ।

आ समय जिस काम के लिये रखा जाय उसमें वही काम पूर्णतया और उत्तमतया किया जावे, जिससे उसके करने में, तथा अन्त में उससे लाभ और सफलता के पाने में

किसी प्रकार की त्रुटि या अभाव न रहे । काम के समय सोलहों आना काम, विनोद के समय सोलहों आना विनोद और निद्रा के समय सोलहों आना निद्रा यही समय का भलाचंगा सदृश्य है । “प्रत्येक पदार्थ के लिये एक निर्दिष्ट स्थान रखिए, और प्रत्येक पदार्थ अपने आप ही अपने स्थान में मिल जायगा ।”* यही बात समय के लिये भी ठीक वैसी ही उत्तरती है । सब कामों के लिये समय ठीक रहे और सब काम अपने आप ही नियमित रूप से हो जायेंगे । किसी काम का आज न करके कल के लिये टालना बड़ा भारी दोष है । कोई नहीं आनंदा है कि कल क्या होगा, इससे बिना किसी बहुत आवश्यक और अनिवार्य कारण के कोई काम दूसरे दिन के लिये कभी न उठा रखना चाहिए । हमारे यहाँ की इस कहावत में कि:—

“किछि करन्ते आज कर आज करन्ते अब ।”

न जाने कितना गहरा उपदेश भरा हुआ है ।

समय को नियमित करने से हमारा यह प्रयोजन कभी नहीं है कि हम उसके दास बन जाएं । धार्तव्य में हम समय के स्वामी हैं और हमें उसको अपना दास बनाना चाहिए । इसी प्रकार से अपने काम को भी अपना दास बनाना हमारे लिये सर्वथा आवश्यक है । अपने कर्तव्य को देख कर सहम

*“ A place for everything and everything in its place.”

जाना और उससे मुँह मोड़ना अस्यत्त लज्जास्पद है । कहा गया है कि “अपने कर्तव्य के पीछे पीछे न चलो, बरन उस पर सबार हो जाओ—उस पर शासन करो ।”* जब प्रत्येक कार्य इस बुद्धि से किया जायगा कि हम इसमें परिश्रम करके अपना और दूसरों का, तथा अपनी जाति और अपनी जन्म-भूमि का कल्याण कर रहे हैं, तभी चित्त उल्लिखित होगा, बुद्धि विकसित होगी और हृदय प्रफुल्लित होगा । “जो मनुष्य जितना ज्यादा काम करता है उसे उतना ही ज्यादा समय विश्राम करने के लिये मिलता है ।” †

एक बार एक बालक अपने बूढ़े बाप के पास गया और बोला—“पिताजी, जब देखिए तब आप काम ही करते रहते हैं । थोड़ी देर विश्राम कर लिया कीजिए ।” इस पर उसने तमक कर कहा—“बेटा, तुम अभी बच्चे हो । तुम जीवन और समय का मूल्य नहीं जानते हो । इस संसार में विश्राम कैसा ? यहाँ हम काम करने के लिये आये हैं । मरने के बाद विश्राम करने को बहुत समय मिलेगा ।” जीवनरूपी कार्यक्षेत्र में आकर समय का सदुपयोग करने के लिये यह उत्तर अच्छी उत्तेजना है और इसे स्मरण रख कर हम बहुत लाभ उठा सकते हैं ।

* “Don’t follow your duty, but ride above it.”

† The busiest man has the greatest leisure.

२—जीवनोद्देश का सामयिक निश्चय ।

यह सर्वथा माननीय है कि हम समय का सदुपयोग, परिश्रम और अध्यवसाय करें और उससे हमें पूरा लाभ भी होगा, परन्तु अब यह प्रश्न उठता है कि यह सब हमें किस उद्देश्य से करना होगा । हमारी जीवन-नौका का कौन सा ध्रुव होगा ? किस जीवनोद्देश की सिद्धि के लिये हमें निरन्तर यत्न करना होगा । जब तक हमारे लिये इस बात का निश्चय न हो जाय, तब तक हमारा समय-यापन और परिश्रम सभी कुछ अनिर्दिष्ट, अतएव अर्थ, है और हम प्रबल वायु में बही हुई नौका के समान या तो गहरे समुद्र में डूब जायेंगे, अथवा यदि बच गये, तो पता नहीं कि कहाँ पर आकर लगेंगे । बिना जीवनोद्देश को ठीक किये हुए और सो भी उचित समय पर हम जीवन के पूर्ण उपकरण, उपयोग और उपभोग से हाथ छोड़ते हैं ।

जीवनोद्देश का निश्चय करने के लिये यह प्रत्येक माता-पिता का कर्तव्य है कि वे अपने पुत्र की प्रवृत्ति को छोटे-पन से ही सूक्ष्मता के साथ देखना आरम्भ कर दें । जिस समय उन्हें उस छोटी अवस्था में यह ज्ञात हो जावे कि इस बच्चे का स्वभाव विशेषतया शासन करने की शक्ति से पूर्ण है और यह अपने साथियों पर अपनी धाक बांधना जानता है; अथवा कविता करने या गम्भीरता के साथ पुस्तकावलोकन

मैं लगा रहता है; या वार्तालाप करने में और नये नये तकों के अनुसन्धान में निपुण है; अथवा चिकित्साशास्त्र की बातों में, रोगियों को देख कर उनके कष्टों को दूर करने में और उन्हें आश्वासन देने में रत है; या पवित्र ग्राम्य जीवन और कृषि-विज्ञान से प्रसन्न होता है; अथवा रेलगाड़ी, कले, तार इत्यादि में मन लगाता है; या नहरों और पानी के कामों में रहा रहता है; अथवा गाने में रुचि रखता है इत्यादि, तभी से उन्हें अपने पुत्र के लिये क्रमशः राज्यकार्य, मन्त्रित्व, राजनीतिज्ञता, कवित्व, साहित्य, वकालत, डाकूरी, जमोंदारी, कृषिविद्या, इंजीनियरी, नहर के काम, संगीत-शास्त्र इत्यादि के उद्देश्य तै कर लेने चाहिए। हमें उस बालक-विशेष को छोटे ही पन से उसके स्वाभाविक उद्देश्य के लिये उत्तेजित करना, उसे तदनुकूल प्राणियों, पदार्थों और प्रभावों से सभी समय धिरे रखना, उससे उसी प्रकार की बातें करना और शिक्षा देना, बढ़ने पर उसे उसी ढंग के पाठालयों और विद्यालयों में भरती कराना, और सबके बाद उसे उन्हों कार्यों, व्यवसायों और व्यापारों में लगाना चाहिए। इस यत्न को करके देखिए कि हमारे देश में फिर भी एक से एक तेजस्वी और यशस्वी मनुष्य होते हैं या नहीं।

रुचि के प्रतिकूल व्यापार में डाल देने का प्रयास माता पिता की निरी असावधानता और बालक के लिये और दुर्भाग्य है। इसी भूल के कारण आजकल प्रायः अन्यायी शासक,

नोरस कवि, अबोध लेखक, निर्जन वकील, अयशी वैद्य, व्यसनी ज्ञामांदार, अयोग्य इंजीनियर वार विलासप्रिय गायक दिव्यायी देने हैं। अनुकूल उद्देश्य के पाकर हमारी प्रतिभा विकसित होती है, वैसे वह दब कर या तो व्यर्थ या नष्ट हो जाती है। यदि बालक की रुचि के निष्ठय करने में कुछ भूल हो गयी हो और बाद को यह जान पड़े कि वास्तव में उसकी प्रवृत्ति किसी दूसरे व्यापार की ओर है, तो माता और पिता को उसी समय उसको बहाँ से हटा लेना और दूसरे अनुकूल व्यवसाय में लगाना चाहिए। जब पहिले ही से भलीभांति जाँच कर उद्देश्य की विवेचना की जायगी, तब इस ढंग से उलटफेर की बहुत कम ज़रूरत पड़ेगी। इस पर भी यदि आवश्यकता ही हो, तो बहुत सोच-विचार कर उद्देश्य का परिवर्तन करना चाहिए। यदि माता और पिता के अभाव में या उनके पर्याप्त-रूप से शिक्षित न होने के कारण उद्देश्य-निर्वाचन का काम स्वयं करना पड़े, तो उस समय पूरे विवेक से और अनुभव-शील मनुष्यों की सम्मति से अपने जीवन के भ्रुत्य को ठीक करना चाहिए, तथा उसके निश्चित हो जाने पर उसी की पूर्ति के लिये सब प्रकार से यज्ञवान् होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि जो जीवनोद्देश्य या व्यापार निश्चित किया जाय वह अपने स्थास्थ, जल, और दशा को देखते हुए अपने सामर्थ्य के बाहर न हो। इसमें सन्देह नहीं कि जन्म ही से प्रतिभाशाली और तेजस्वी मनुष्य

सहज में इस नियम का उल्लंघन कर सकेगा—अपने सामर्थ्य के बाहर काम करके सब को चमत्कृत कर सकेगा, परन्तु साधारणतया उक्त नियम के अनुकूल काम करना ठीक होगा । अपनी आशा की कोटि के भीतर ही अपने व्यवसाय का निश्चय बहुधा हितकर होता है । असम्भव इच्छाओं का करना अनुचित है । यदि सामान्य भिष्णुक बैरिस्टर या डाक्टर होने की आशा करे, तो यह उसकी निरी बेसमझी है । हाँ, उसके लिये यह सचमुच सम्भव है कि पहिले पहिल वह परिश्रम करके खेतिहार बने और धन इकड़ा करे, तथा उसके बाद समय पाकर उसके पुत्र, और नहाँ तो उसके पौत्र, सदा उच्चाभिलाष रखते हुए, बैरिस्टर और डाक्टर भी हो सकेंगे ।

किसी भी उद्देश्य-विशेष ने सफलता या निष्फलता का ठेका नहीं ले रखा है । उसमें सफल होकर नाम पैदा करना अथवा निष्फल होकर साहस छोड़ देना प्रत्येक मनुष्य की ग्रतिमा, सामर्थ्य और परिश्रम पर निर्भर है । यदि स्वभाव के अनुकूल व्यापार को पाकर कोई मनुष्य उसमें अच्छा काम नहीं कर सका है और असफल हो गया है, तो यह उसका दोष है, न कि उसके उद्देश्य का । आलसी, जीवेवार, निकलमा, आराम-तलब, और बेर्दमान आदमी जिस पेशे को हाथ में ले गा उसी में वह धोखा खायेगा और धाटा उठायेगा । हमें चाहिए कि जिस व्यवसाय को हम अपने लिये अन्तिम रूप से निश्चित पावें या करें उसे फिर उत्तमता के साथ करें, तथा निर्दा,

तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता को अपने पास तक न आने दें ।

कोई भी व्यापार ऊँचा या नीचा नहीं है । स्वयं मनुष्य ही अपनी व्याख्यता या अव्याख्यता से उसे भला या बुरा बनाता है । जूतों तक का गाँठना अच्छा है, परन्तु पूरे दाम लेकर खोटा काम करना अवश्य निष्ठनीय है । उत्तमता के साथ किये जाने से वे व्यापार, जिन्हें लोग प्रायः तुच्छ दृष्टि से देखते हैं, प्रशंसनायेम्य है जाते हैं, नहीं तो अनुचित और अव्याख्य मनुष्य के हाथ में पड़ कर उत्तम अवसाय भी कौड़ी मोल के नहीं रहते हैं ।

किसी उद्देश्य को निश्चित या व्यापार को करके उसे गिरणिट के रंगों के समान जल्दी जल्दी बदलने का यत्न नहीं करना आहिए । “ब्रिदण्डी संन्यासी, फिर एक दण्ड-धारी साधू, अनन्तर ठग, और उसके उपरान्त तपस्थी बन कर यह जटाधारी महात्मा और ठगों के राजा अब नागा बाबा बने हैं ।” * इससे यह स्पष्ट है कि जल्दी जल्दी उद्देश्य बदलने वालों का भीतरी अभिग्राय कुछ और ही होता है । सज्जन मनुष्य भली भाँति सोच-विचार कर एक बात को निश्चित करता और उसका निर्वाह करता है । जिस मनुष्य का चित्त

* “पुनखिदण्डः पुनरेकदण्डः पुनः पुनर्वैचकतामुपैति ।

तपस्वितामेवं जटासुरोयं नप्तोऽभवद्वृचकचक्षतर्ती ॥”

(लटकमेलक प्रहसन)

सफलता के लिये दो ज़रूरी बातें ।

१५१

स्थिर होता है वह अपने निश्चित उद्देश्य में हड़ रहता है और बिना किसी अनिवार्य कारण के उसे कभी नहीं बदलता है । विवेक-शून्य उद्देश्य-परिवर्तन से किसी भी काम में सफलता नहीं मिलती है और मनुष्य का सारा जीवन इसी उद्घेष्ठ-बुन में समाप्त हो जाता है । जो उद्देश्य अन्तिम रूप से स्थिर किया जाय वह यदि सामान्यतया तुच्छ भी माना जाना हो, तो उसे वैसा कभी न समझना चाहिए । जब हमने एक व्यवसाय को निश्चित कर लिया है, तब अपनी योग्यता से उसे भी परिव्र, उच्चत और उत्तम बना कर दिखा देना हमारा काम है ।

२—एक रहस्य ।*

इस रहस्य बड़ा ही विलक्षण है। यद्यपि यह आप सब को ज्ञात है, तथापि यह रहस्य है। इसे “खुला हुआ रहस्य” समझिए। इस बार आपकी सेवा में संक्षिप्त रीति से सफलता का रहस्य निवेदन किया जायगा। सफलता के रहस्य के वर्णन से पूर्व “साफल्य” का वास्तविक अभिप्राय जान लेना अत्याधिक है; विविध प्रकार के मनुष्य इसके अनेक अर्थ करते हैं। विद्वत्ता, भूपतित्व, धनसम्पन्नता, नाम-सम्पुच्छता[†] इत्यादि का निर्देश इस शब्द के द्वारा हो सकता है। यह बहुत ठीक है, परन्तु ये अर्थ सर्व-स्वीकृत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि मनुष्यों में हृषि-चैत्यित्व वर्तमान है।

अब सफलता की अभिव्यास परिमाणा को जानने के लिये हम आपको वर्तमान काल की निष्फलता का उदाहरण देते हुए पहले इसकी परिमाणा की आलोचना करेंगे। आजकल

* मार्च १९०६। “श्रीराध्येन्द्र” भाग २, संख्या ६, पृष्ठ ३२३—३२५। यथापूर्व, परन्तु संशोधित। स्वतन्त्र।

† नाम के उपरान्त औंगरेज़ी की वर्णमाला के अक्षरों के लिखे जाने का सौभाग्य प्राप्त होना।

एक व्यक्ति विशेष को हम तभी निष्फल कहेंगे, जब वह इच्छित कार्य को पूर्ण न कर सके । आशय यह है कि वह उपरोक्त अथवा अन्य सफलता-विभेदों में से किसी एक को लक्ष्य मान कर बड़ा प्रयत्न करे, तथा अन्त में फल-प्राप्ति से बिज्ञप्त रहे । यदि हम आप से इस फल-प्राप्ति से बिज्ञप्त रहने का कारण यूछें, तो आप यही कहिएगा कि या तो यथासमय कृत्य नहीं किया गया, अथवा अभिलाष ऐसी पराकाष्ठा को पहुँचायी गयी कि उसकी पूर्ति असम्भव हो गयी, या एक ही समय में दो-चार उद्देश्यों के पीछे दौड़ना प्रारम्भ कर दिया गया, तभी यह परिणाम हुआ । ऊपर के वर्णन से निष्फलता की परिभाषा सरल है । समय तथा पुरुषार्थ का वृथा नष्ट होना केवल निष्फलता का कारण ही नहीं, बरन स्वयं निष्फलता है ।

हम इस प्रकार से सफलता की परिभाषा को अनायास छात कर सकते हैं । समय तथा पुरुषार्थ को नष्ट न होने देना—इनका सदृश्य करना—सफलता है । इनका सहुपयोग ही जीवन-साफल्य है, चाहे वह आत्मीय, सामाजिक या देशोपकारक कामों में हो, अथवा किसी अन्य उच्चम उद्देश्य में व्यय किया जाय ।

इस समय आपको यह उत्कण्ठा अवश्यमेव होगी कि उक्त रहस्य भी हमको शीघ्र ही छात हो जाय । सुनिए रहस्य यही है कि “अपना कर्तव्य जानते रहिए ।”* अभिग्राय यह है कि

* Know your duty.

यदि मनुष्य यह सदा स्मरण रखे कि ईश्वर, गुरु, माना, पिता, पुत्र, कलन्त्र, जाति, समाज, देश इत्यादि की ओर हमारा क्या कर्तव्य है—क्या फ़र्ज़ है, तो वह प्रायः सफल होगा । यदि प्रत्येक विषय में वह अपना कर्तव्य जानता रहे, तो उसके धोखा खाने की कदापि आशङ्का नहीं है । अब आप रहस्य जान गये और इसके अनुकूल चलना या न चलना, सफल होना या निष्फल होना आप ही पर निर्भर है । आप पूर्ण उद्योग कीजिए, अपनी विजय में पूर्ण विश्वास रखिए, प्रसन्न चित्त रहिए—यह कहना न होगा कि आप अपने धर्म को न भूलिए, और आप अवश्य सफल होगे ।

३—हास्यमयोक्ति-मालिका ।*

(१)

एक विजयी सेनापति ने अपने एक सैनिक से पूछा—“हाँ, भाई, तुमने इस विजय में मेरी क्या सहायता की ?”

उसने उत्तर दिया—“महादय, मैंने बड़ी वीरता से एक सैनिक का पैर छलग कर दिया ।”

सेनापति—“हाँ, हाँ, सो तो अच्छा किया, पर तुमने उसका सिर क्यों नहीं काटा ?”

सैनिक—“ओह ! उसका सिर तो पहले ही से कट चुका था ।”

(२)

एक छैल महादय ने एक नाई से कहा—“क्यों बै, तूने कभी किसी गधे के बाल बनाये हैं ?”

उसने उत्तर दिया—“साहेब, अमै लग तौ नाहीं, मुद्दा जो सरकार बैठि जाय, तो मैं अपनि किसमति खालौं ।”

* नवेम्बर १९०६। “श्रीराधबेन्द्र” भाग ३, संख्या ४, पृष्ठ १५४—१५५। स्वतन्त्र रूप से संगृहीत और अनुवादित।

(३)

एक रोगी अपनी चारपाई पर पड़ा हुआ था । उसकी दवा करने के लिये दो डाकूर आये, परन्तु उनमें मतभेद होने से विवाद आरम्भ हो गया ।

उन्नु में उनमें से एक ने कहा—“चाहे जितनी बक बक करो, पर मरने के बाद जब इस रोगी की लाश चीरी जायगी और उसकी जाँच होगी, तब देख लेना मेरी ही सम्मति ठीक निकलेगी ।”

यह सुनते ही रोगी के होश उड़ गये और उसने इन यमराज के भाइयों से छुटकारा पाने की प्रार्थना की ।

(४)

एक समय किसी न्यायाधीश के सामने एक अभियोग उपस्थित था । प्रतिवादी के बकील ने कहा—“महादय, अपराध को प्रमाणित करने के लिये केवल तीन साक्षी हैं, परन्तु मैं ऐसे बारह साक्षी दूँगा जो यह शपथ खा सकते हैं कि इस मनुष्य ने अपराध नहीं किया है ।” आशा हो गयी—“बेल, जाओ, हमने अपराधी को छोड़ दिया ।”

(५)

एक बार एक मनुष्य ने अपने मित्र से छाता मँगनी लिया, परन्तु उसे बहुत दिनों तक वापस नहीं किया । एक दिन वही छाता लगाये हुए वह अपने मित्र के मकान के पास होकर निकला । उस समय इसने कहा:—

“भाई, बहुत दिन हो गये, अब तो छाता वापस कीजिए ।”

मनुष्य—“हाँ, ठीक है, पर मुझे अभी छुट्टी नहीं है ।

कृपया क्षमा कीजिए, देखा जायगा ।”

मिश्र—“आप ही कहिए हम फिर क्या करें । देखिए बर-सात का महीना है ।”

मनुष्य—“वाह, वाह, इतनी चिन्ता किस लिये । आप भी किसी और से छाता माँग लीजिए ।”

यह कहते हुए थह चला गया और यह मिश्र उसका मुँह ताकता रह गया ।

(६)

एक मनुष्य—“कदाचित् मैंने आपको कहाँ देखा है ?”

दूसरा—“हाँ, हाँ, ठीक है । मैं बहुत दिनों तक जेलखाने का दारोगा रह चुका हूँ ।”

४—महाराजा सर प्रताप नारायणसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० ।

वंशपरिचय ।

ह जाति के शाकद्वारी प्राह्लाद थे । महाराजा श्रीकृष्णचन्द्रजी के समय में इनके पूर्व-पुरुष भारतवर्ष में आये और उन्होंके द्वारा इनको ७२ गाँध मिले । अनन्तर यह वंश फलता और फूलता रहा । इस कुल की जिस शाखा में हमारे चरितनायक का जन्म हुआ था उसे “मख पैंचार” कहते हैं । यह अब भी अपनी पैतृक सम्पत्ति का उपभोग कर रहा है ।

जन्म तथा बाल्यावस्था ।

महाराजा के पिता का नाम बाबू नरसिंहनारायण था । महाराजा सर मानसिंह की एकमात्र पुत्री उन्हों बाबू साहब को व्याही थी । अध्य के नवाब चाजिदअली शाह सर मानसिंह को इतना अधिक मानते थे कि उक्त विवाह के समय उन्होंने भी एक गाँध बाबू नरसिंहनारायणजी को देज में दिया था ।

* दिसम्बर १९०६ । अमुद्रित । पुनर्लिखित और संवित । स्वतन्त्र ।

महाराजा सर प्रताप नारायणसिंह बहादुर के. सी. आई. ई. १५९

महाराजा सर प्रताप नारायणसिंह का जन्म अपने नाना के यहाँ १३ जूलाई १८७५ को हुआ। उस समय बड़ी धूम-धाम के साथ आनन्द मनाया गया। इन पर सर मानसिंह का अतिशय प्रेम था और वह इनको अपने पुत्र से भी अधिक स्नेह की दृष्टि से देखते थे। इनका पहला विवाह अपने नाना ही के समय में हुआ। उसके बाद इन्होंने अपना दूसरा व्याह अपने आप किया।

शिक्षा ।

इन्होंने सातवें वर्ष में पढ़ने का आरम्भ किया। इनको संस्कृत और फ्रारसी भाषाओं की शिक्षा अच्छी तरह से दी गयी। तेरहवें वर्ष में इन्होंने अङ्गरेजी पढ़ना शुरू किया। इसी समय इनको भर्यांकर शीतला रोग से बड़ा कष्ट हुआ, परन्तु ईश्वरकृपा से यह शीघ्र नीरोग हो गये। उक्त भाषाओं में योग्यता सम्पादन करने के साथ ही यह बन्दूक दागने, भाला चलाने और घोड़े की सवारी का पूरा अभ्यास करते जाते थे। इनको शासन-नियम, राज्य-प्रबन्ध और प्रजा-पालन के मूल सिद्धान्त भी उचित रीति से सिखाये गये।

नाना का परलोकवास और उत्तराधिकार का भगड़ा।

यह महाराजा सर मानसिंह की बड़ी महारानी के नाती थे, साथापि छोटी महारानी और सर प्रताप नारायणसिंह में बहुत

बड़ा सैहार्द था । इस कारण से भविष्य में किसी प्रकार के भगड़े की शंका न करके महाराजा मानसिंह भरते समय अपनी छोटी महारानी को सम्पत्ति की उत्तराधिकारियों बना गये, बड़ी महारानी का देहान्त उनके समय में ही हो चुका था । कुछ कारणों से बाबू नरसिंहनारायण और छोटी महारानी में घेर वैयनस्य हो गया, इसीसे महाराजा प्रताप नारायण से भी उनके विषम वैर की जड़ जमी । परिणाम यह हुआ कि छोटी महारानी ने अपने वंश के एक बालक को गोद ले लिया और अपने नाती को उत्तराधिकार से वंचित करने के लिये फ़ैज़ाबाद के कलेक्टर के यहाँ मुकद्दमा दायर कर दिया । यहाँ और लखनऊ में जुड़ीशल कमिशनर के न्यायालय से इन की जीत हुई, परन्तु १९ फ़रवरी १८७७ को प्रिंसी कौसिल ने छोटी महारानी के बाद हमारे चरित्रनायक ही को उत्तराधिकारी नियोगित किया । दोहरा के फिर यही मुकद्दमा दूसरे रूप में प्रिंसी कौसिल तक पहुँचाया गया । इस बार भी महाराजा प्रताप नारायणसिंह ने विजय प्राप्त की । इस समय इनके शत्रु परास्त हो गये थे और मित्रदल के हर्ष का ठिकाना न था ।

राज्याभिषेक और राज्यप्रबन्ध ।

१८८५ में भारत सरकार ने इनके हाथ में राज्य का भार सौंपा । उस समय बड़ा आनन्द मनाया गया । शत्रु-दल अब भी इनके पीछे पड़ा हुआ था और कोई मुकद्दमा दायर

महाराजा सर प्रताप नारायणसिंह बहादुर के. सी. आई. ई. १६१
करना रहता था। अन्त में प्रायः उन सभी में हार कर इनके
सब वैरी ठंडे हो गये और इनको निश्चिन्त होकर राज्य-कार्य
करने का समय मिला।

यह प्रायः सभी काम अपनी आँखों से देख कर करते थे।
काम को नौकरों पर ही छोड़ देना और स्वयमेव कुछ न
देखना इनके स्वभाव के विरुद्ध था। इनका प्रबन्ध नवीन शैली
के अनुकूल था और यह उसमें आवश्यक सुधार करते
जाते थे। प्रजा के दुःखों को निवारण करने की ओर इनका
पूरा ध्यान रहता था। यह अपनी रियासत में दैरा भी करते
थे। इनके हजारों नौकर थे; उन सब पर इनका पूरा आधि-
पत्य रहता था।

शील और गुण।

यह विनयी, मधुरभाषी और बहुत सीधे थे। इनकी
पोशाक सादी और देशी ढंग की रहती थी। इनका अभिमान
झूँ तक न गया था। साधारण कोटि के, परन्तु विद्वान्, मनुष्यों
तथा छोटे छोटे रहसीं के साथ इनका पूरा सौहार्द रहता था।
इनकी सारण-शक्ति अच्छी थी। एक बार परिचय हो जाने पर
यह अपने इष्ट-मित्रों को कभी न भूलते थे। यह विद्वानों का मान
और आदर करते थे। यह सामान्य मनुष्य से भी बात-चीत
करने में कुछ संकोच न करते थे। यह धीर, शान्त, क्षमा-
शील और निर्भय मनुष्य थे।

उदारता ।

यह धर्म के कामों में भला-चंगा रूपया लगाते थे । अपनी रियासत के पुराने और अपने बनवाये हुए नये मन्दिरों में इन्होंने कई हजार सालाना की निकासी के गाँव लगा दिये हैं । समय समय पर अपनी प्रजा के बोझ को हलका करने के लिये यह उनसे प्राप्त बाकी लगान में लाखों रुपये छोड़ देते थे । विद्या-प्रचार की ओर इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी । यह आरम्भ ही से लखनऊ के कैलिंग कालेज और कालिन तगलुकदासी स्कूल को यथोष सहायता देते चले आये थे । इनके हजारों गुम दानों के द्वारा दीन-दुखियों का भरण-पोषण होता था ।

धार्मिक सिद्धान्त ।

यह कहुर सनातनधर्मी हिन्दू थे, परन्तु इनको किसी भी मत से द्वेष न था । इन्होंने अपनी रियासत में विरुद्ध मत के भी मनुष्य ऊँचे ऊँचे पदों पर नौकर रखते थे । यह बड़े कर्मठी थे । सभी देवताओं पर इनकी समान-अस्त्रा थी । अग्रेश्या में श्रीराधाकृष्णजी का कोई भी मन्दिर न था, इसलिये इन्होंने एक उत्तम संगमरमर का मन्दिर बनवा कर उसमें युगलमूर्ति की स्थापना की । यह पार्थिवेश्वर महादेव का पूजन बड़े प्रेम के साथ करते थे, प्रतिदिन इनके पूजन के समय देव-पाठी लाक्षण देव-स्वनि किया करते थे ।

महाराजा सर प्रताप नारायणसंह बहादुर के. सी. आई. ई. १६३

विद्या-प्रेम ।

इन्होंने एक विशद पुस्तकालय की स्थापना की थी । यह उसमें कभी कभी बैठ कर पुस्तकावलोकन करते थे । इनका विद्वेष अनुराग हिन्दी भाषा ही पर था । यह अपने जीवन भर इसी भाषा की उन्नति और प्रचार के लिये यत्नशील रहे । अदालतों में नागराक्षरों के प्रचार के लिये जो प्रतिनिधि दल प्रायः १९०० में लाट साहब की सेवा में उपस्थित हुआ था उसके यही प्रधान थे । उस उद्योग में इनको थोड़ी-बहुत सफलता भी हुई थी ।

हिन्दी भाषा के कवियों और लेखकों को उत्तेजना और आर्थिक सहायता देना, उनका आदर और मान करना, तथा उनसे उपर्योगी ग्रन्थों का लिखाना इनका प्रशंसनीय कर्तव्य था । यह स्वयमेव कविता करते थे । इनका बनाया हुआ “रस-कुसुमाकर” नामक ग्रन्थ इनकी विद्यान-सिक्ति का फल है । इन्होंने अपने नाना की बनायी हुई “शृङ्खारलतिका” नामक पुस्तक पर टीका भी की है ।

मरकार की गुणाघातकता ।

भारत सरकार ने इनकी योग्यता से प्रसन्न होकर १८८७ में इसको महाराजा की ओर उसके तीन वर्ष बाद के० सी० आई० ई० की उपाधि से भूषित किया । १८९२ में इनको “अयोध्यानरेश” की पदवी मिली । यह १८९७ में अदालत

दीवानी की हाजिरी से और उसके तीन वर्ष बाद “एकट अस्लहा” से मुक्त किये गये । १९०६ में इनकी विद्या-रसिकता का आदर करके सरकार ने इनको महामहोपाध्याय की पदवी दी । यह एक बार बड़े लाट साहब की राजकीय व्यवस्थापक सभा तथा अनेक बार प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा के सदस्य रहे थे ।

राजभवन, वाटिका इत्यादि ।

इनके आयोध्या के राजभवन और उपवन को देख कर इनकी उच्च और परिष्कृत रुचि का पता लगता है । इनको बढ़िया मकान और फुलबाड़ी बनाने का बड़ा चाव था । इनके राजभवन और उपवन उत्तम, सुन्दर और सुसज्जित दशा में रहते थे । यह प्रत्येक पदार्थ और काम के लिये अलग अलग स्थान रखते थे । इनके भवन में हर एक मकान के मुख्य द्वार पर उसका नाम संग-मर्मर की पाटी पर लिखा हुआ लगा है । वहाँ पर काष्ठागार, आयुधागार, रक्षागार व रक्षागार इत्यादि की समुचित आयोजना है । चन्द्रभवन की निराली ही छटा है, मुक्ताभास अपनी रमणीयता से प्रासाद की शोभा को दौड़ानी करता है । हरियाली से लहलहाती हुई, रङ्ग-विरङ्गे पुष्पों से चित्रित और मरकत-विभास इत्यादि जलाशयों से सुशोभित राजघाटिका की सौन्दर्य-सम्पत्ति अनुपम है । इनका भवन बिजुली की रोशनी और टेलीफोन से संयुक्त है । इनके जीवनकाल में इनके प्रबन्ध के प्रभाव से आयोध्या का झूलनेत्सव निराले ही ढँग का होता था ।

महाराजा सर प्रताप नारायणसिंह बहादुर के. सी. आई. ई. १६५

परलोकवास ।

९ नवेंबर १९०६ को केवल ५१ वर्ष की अवस्था में इनका स्वर्गवास हो गया। कुछ दिनों की बीमारी के बाद इन्होंने ९ तारीख को सरगू के टट पर चलने की इच्छा प्रकट की। उस समय इनका चिंत कुछ अच्छाजान पड़ता था। प्रातःकाल ९ बजे सरगू के टट पर पहुँच कर इन्होंने अपना धोड़ा और बहुत सा रुपया दान किया। अनन्तर इन्होंने दान देने के लिये हाथी के भी लाये जाने की आशा दी, परन्तु उसके आने के पहिले ही इन्होंने अपने पाञ्चमौतिक शरीर को त्याग कर स्वर्ग के लिये प्रस्थान किया।

अवशिष्ट ।

इनके स्वर्गगमन से मानों अद्यानगरी पर बज्र दूट पड़ा। उस समय सभी स्थानों में शोक छा गया था। बड़े लाट, छोटे लाट, अनेक महाराजा, राजा इत्यादि ने इनकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया और भारतवर्ष के प्रायः सभी समाचारपत्रों ने इस विषय के समय में अपनी समवेदना का प्रदर्शन किया। १९०१ के दानपत्र के अनुकूल यह अपनी छोटी महारानी को अपनी उत्तराधिकारिणी बना गये हैं और बड़ी महारानी की समुचित आजीविका की पूर्ण आयोजना कर गये हैं।

५—जातीय शिक्षा ।

स्लिविक दिक्षा वह है जो हमें जीवन के संग्राम में सफलता के साथ लड़ने को तैयार कर सके । †
 वही शिक्षा पूर्ण होगी जिसके द्वारा हमारी सब दशाएँ—मानसिक, शारीरिक, सामाजिक गौर जातीय—उच्चति को प्राप्त हों ।

यद्यना इस प्रकार की शिक्षा के यदि हमारा एक अङ्ग सबल होता है, तो दूसरा नैर्बल्य को प्राप्त होता रहता है । उसी शिक्षा से कुछ भी लाभ नहों है । जैसे एक व्यक्ति-विशेष अपनी जाति का, वैसे ही एक जाति-विशेष संसार के जाति-समुदाय का, एक अङ्ग है । जिस प्रकार से एक व्यक्ति-विशेष को अपनी जाति में उच्चति करने के लिये अत्यन्त अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार से यदि एक जाति अपने सुधार के लिये यत्कानन होकर खुण्डाप बैठ रहे, तो उसकी अवनति अवश्य-भावी है ।

* मार्च १९०८ । मार्च १९०८ के “भारतवासी” की एक संख्या में सुनित । खाला जापतराय के एक व्याख्यान के आधार पर ।

† Education is the preparation for the battle of life.

जातीय और अक्सिगत शिक्षाओं में दोनों की कामनाएँ, उद्देशों और उच्चाभिलाषों का समान होना अत्यावश्यक है, नहीं तो ये दोनों टकराकर एक दूसरे को नष्ट कर देती हैं। किसी जाति-विशेष की शिक्षा में उसकी प्रवृत्ति पर ध्यान देना बहुत ज़रूरी है। बिना उसकी हच्छि के अनुकूल शिक्षा दिये हुए लिखाई और पढ़ाई का कुछ भी प्रभाव न होगा। शिक्षा को पूर्ण करने के लिये धर्म-मम्बन्धी पढ़ाई की भी बड़ी आवश्यकता है। बिना धर्म का ज्ञान प्राप्त किये भनुष्य की योग्यता अपूर्ण रहती है। इसके साथ ही भारतवर्ष के सब्दे इतिहास को यहाँ के बालकों के चित्त पर अङ्कित करना अत्यन्त अपेक्षित है। दूषित इतिहासों के द्वारा हम लोग सिवा इस बात के कि हमारे पूर्व-पुरुष अत्यन्त नीच, निर्बल विश्वास-वाले थे और 'नीमवेदशी' थे और कुछ भी नहीं जान सकते हैं। पूर्व पुरुषों का आदर करना और उनकी प्रतिष्ठा करनी दूर रही, हम लोग उन्हें धृष्णा की हृषि से देखना आरम्भ कर देते हैं। हमारी उच्चति तभी सम्भव है, जब हम लोग अपनी प्राचीन उत्कृष्टता को समझेंगे और अपने पहले के बड़-पूर्व के साथ अपनी भविष्य की उच्चति को मिलाये रहने का यत्न करेंगे। तभी हम सब तरफ़ों करेंगे, जब हमें यह मालूम हो जावेगा कि पहले हम सम्पूर्ण संसार के शिरो-मणि थे और हमी लोगों से और जातियों से ज्योति प्राप्त की है।

पूर्व समय में हिन्दुओं और मुसलमानों में भगड़े हुए हैं, परन्तु हम इस प्रकार से भी उनका वर्णन कर सकते हैं कि इन दो समुदायों में विश्रह शान्त हो और मेल बढ़े । कुछ इतिहासों में ये विषय एक ऐसी ज्योति में लिखे गये हैं जिसके कारण यह भगड़े की ज्वाला जलती रहती है, अतएव हिन्दू-मुसलमान विश्रह भी उत्तम इतिहास तैयार करने से शान्त किया जा सकता है । जातीय शिक्षा में हमें यह भी सिखाना चाहिए कि स्वाधीन रहकर ईमानदारी के साथ हम लोग किस प्रकार से अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं, और बिना कपट किये हुए, ठेकरे खाये हुए, और सौ सौ “फ़र्मी सलामें” किये हुए हम किस भाँति सुख से रह सकते हैं ।

क्या घनस्पति, क्या मनुष्य और क्या जाति इन सब पर जल-चायु का प्रभाव पूरे नौर से पड़ता है, इससे हमको अपने “चारों ओर के हालात” या प्रतिवेश* को इस भाँति का बनाना चाहिए जिससे हमारी जातीय शिक्षा, उसकी वृद्धि और उन्नति को सहायता मिले । धर्तीमान शिक्षा-प्रणाली में यह सबसे बड़ा दोष है कि यह हमें “स्वतंत्रजीवी” और “पुरुषार्थी” नहीं बनाती है । इसने सिवा खेती, बकालत, अथवा सरकारी नैकरी के और कोई भी जीविका का साधन नहीं छोड़ा है ।

* Environment. (वे सब प्राणी, पदार्थ और प्रभाव जिनके बीच में मनुष्य अपना समस्त जीवन व्यतीत करता है ।)

अनेक अँगरेज विद्वान् इस दोष को समझते हैं, परन्तु इसके सुधार के लिये उनका मुँह न ताक कर हमें स्वयं यत्न करना चाहिए । अपनी आवश्यकताओं को हम ही उत्तमता के साथ जान सकते हैं, अतएव स्वयमेव आदर्श विद्यालय स्थापित करके इन्हें उनके विश्वविद्यालयों के लिये उदाहरण बनाना चाहिए । जब वे हमारे कालेजों की उत्तमता को देखेंगे, तौर पर यह जानेंगे कि सब विद्यार्थी उनके विद्यालयों को छोड़ छोड़कर हमारे विद्यालयों में आ रहे हैं, तब लजित होकर उन्हें भी वही प्रणाली अपने यहाँ आरी करनी पड़ेगी । यह स्मरण रखिए कि शिक्षा वही है जो हमारे मत्स्तिष्ठ कौर हृदय को विस्तृत करे ।

अपने यहाँ हिन्दुओं में प्रत्येक मनुष्य कुछ ऋण लेकर उत्पन्न होता है । यह ऋण उसे अवश्यमेव मरने के पूर्व दे डालना चाहिए । अपने युवकों को शिक्षित करने का भी ऋण हमारे ऊपर है । इसी प्रथा के अनुकूल पूर्व समय में अपनी जाति के लोगों से भिक्षाटन करके ब्रह्मचारी विद्योपार्जन करता था । आशय यही था कि हर एक बालक को शिक्षा, विना कुछ लिये हुए, सुकृदी जावे । जब तक जातीय शिक्षा शुल्क-रहित तौर पर अनिवार्य न होगी, तब तक उसका प्रचार होना असम्भव है ।

हमारी गङ्गा माता वही हैं, वही हिमालय पर्वत है, तौर वही तपो-भूमि यह भारतवर्ष है, परन्तु क्या कारण है कि पहले पहल शिरोमणि होते हुए भी अब हम उत्तरि नहीं कर सकते

हैं ? दोष हमी लोगों का है । पहले हम लोगों की आत्मा विस्तृत थी और सबको अपना जानती थी । यह अपनी जाति की उन्नति में लग कर अपने भार को समझती थी, परन्तु अब इसी आत्मा को सङ्कुचित कर देने से सब विपर्तियाँ आ रही हैं । हम आजकल की पाठशालाओं में विद्यार्थियों के साथ माता प्रौढ़ पिता के सम्मान व्यवहार न करके जेलरों की भाँति उनकी ताड़ना करते हैं । हम उन्हें यह नहीं बतलाते हैं कि तुम लोग देवताओं और देवियों की सन्तान हो, तथा जब संसार में और सब उन्नति कर सकते हैं, तब तुम भी उन्नति कर सकते हो ।

इन सब बातों को विचारने हुए हम लोगों को जातीय शिक्षा पर ध्यान देना चाहिए । हमें सोचना चाहिए कि यह प्रश्न ही हमारे लिये जीवन या मरण हो सकता है, तथा यही शिक्षा हमें स्वाधीन होकर रहना और सर्वसाधारण की गिरी दशा की उन्नति करना सिखायेगी ।

६—सीतापुर में लाजपति ।*



ज हम लोगों के सम्मुख देश के प्रेम का बड़ा-
भारी जटिल प्रश्न उपस्थित है। उस पर
ध्यान देने या न देने ही से हम लोगों का
उद्धार अथवा सर्वनाश हो सकता है।
यह समय हमारे लिये बड़े मार्कें का है।

वर्तमान काल में देश-प्रेम की समस्या पर भारत की उन्नति
या अवनति सर्वथा निर्भर है। देश-प्रेम होने से हमें जन्म-भूमि
के हित के लिये उत्सेजना मिल सकता है और हमारे उत्साहित
होने ही से भारत के कल्याण की प्रत्याशा की जा सकेगी।
सोते और मङ्गिलयाँ मारते रहने से किसी के पास जो कुछ
थोड़ा-बहुत शैष रहता है वह भी ध्वंसपुर को प्रयाण कर जाता
है। अब यह स्पष्ट है कि स्वदेश-प्रेम की जड़ को पुण्य करना
हम सब का परम कर्तव्य है।

देश-प्रेम का भावाभाव उसके अनेक विकासों के द्वारा जाना
जाता है। यदि मनुष्य जाति-हित की कुछ भी कामना नहीं कर

* एप्रिल १९०८। मई १९०८ के “भारतवानी” की एक संख्या
में सुनित। स्वतन्त्र।

रहे हैं और सुपचाप बैठे हुए ऊँध रहे हैं, तो इससे यह प्रमाणित होता है कि उन लोगों में नाम मात्र को भी देशानुराग नहीं है। यदि हम लोग शिल्प का व्यापार, वाणिज्य का प्रसार और शिक्षा का प्रचार करने में तत्पर हैं, तो यह अवश्य स्पष्ट होगा कि हम सब में भारत-माता की ओर प्रीति वर्तमान है। देशानुराग का एक अङ्ग या विकास यह भी है कि हम भारत के रुद्रस्वरूप बड़े बड़े अग्रण्य विद्वानों का समुचित आदर करना सीखें। यदि इस काम में हमारा पैर कुछ भी पीछे पड़ता है, तो हम अवश्यमेव अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हो रहे हैं, अपने यशस्वी भाई—अपनी जाति—का अपमान कर रहे हैं, भारत की उच्चति में लात मार रहे हैं और इससे भी महाभयङ्कर पाप, स्वदेश-प्रेमरूप हादिशित कोमलाङ्ग शिशु का खून, कर रहे हैं।

एक कहावत है कि “यदि लक्ष्मी महारानी स्वयं किसी अभागे का कर एकड़े हों, तो भी मस्तक पर दरिद्र का छब्ब होने से उसके ऊपर ‘कंचन नीर’ का एक बिन्दु भी नहीं गिरता है।” एक तो छोटे नगरों में बड़े महानुभाव जाते ही नहीं, और यदि गये भी, तो कभी कभी उन्हें इस सरल-हृदयता के लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। बात भी सच है कि बड़े नगरों का बड़ा भाग और क्षुद्र नगरों की क्षुद्र ही प्रहृष्टता होती है। यदि कभी किसी सुयोग के पड़ जाने से कोई महानुभाव दयालु होकर छोटे नगरों में पधारते हैं, तो वहाँ के निवासी “आदरख का स्वाद जानने” में बड़ी कोताही करते हैं।

ऐसे लोगों में देशोत्साह की गन्धि तक नहीं होती है । यदि कुछ हुई भी, तो करारे आदेशों के डर से वह रसातलगत हो जाती है । अनेक लोग यह भी नहीं जानते हैं कि नगर में कोई आया था या नहीं, अनेक जानते हुए भी अपने घर के कपाट बन्द करके सो रहते हैं, और कोई कोई औरों के घरों में छिप कर निद्राङ्गत हो जाते हैं, तथा घर के स्वामी से यह कह देते हैं कि यदि हमें कोई पूछने आवे, तो कह देना कि बाबूजी यहाँ नहीं हैं ! जहाँ ऐसे विद्वान्-मूर्ख और भीषु पुरुष हों उस नगर से कुछ भी आशा करना दुराशा मात्र है । अनेक उत्साही जनों को, जो देशहितीषी महानुभावों की सेवा के लिये तत्पर रहते हैं, या तो सूचना ही नहीं मिलती है, और यदि मिली भी, तो उन्हें सखेद यह जानने का दुर्भाग्य प्राप्त होता है कि “यहाँ आपके आने के पूर्व ही अमुक महादय नगर से प्रस्थान कर गये ।”

जब उपेक्षा करने के लिये मनुष्य कटिबद्ध हैं और एक न एक काम के बहाने से दूर भाग रहे हैं, तब उनसे कौन आशा कर सकता है कि वे नगर में आये हुए एक विद्वान् का यथोचित आदर करेंगे ? इस छोटे से नगर सीतापुर में आकर लाला लाजपतिरायजी ने अपनी सहानुभूति और महानुभावता का परिचय दिया । बड़ा मनुष्य छोटे पर कृपा करता ही है, परन्तु यह छोटे लोगों के हाथ है कि वे चाहे उचित व्यवहार करके सभ्यमण्डली में यश लूटें, और चाहे तुच्छ उदाहरण

दिखा कर अपने मस्तकों को अपयश के तिलक से कलंकित करें । यहाँवालों को पिछली बात पसन्द आयी । इन्होंने लालाजी का उचित स्वागत न किया, उनके आने पर कुछ भी हष और उत्साह न दिखाया, तथा कुछ लोग दबका लगाये हुए श्वास रोक कर बैठ गये और नोचने लगे कि देखें यह पाप यहाँ से कब टलता है । बास्तव में इस नगर में रईसों की संख्या बहुत कम है । प्रायः वे बाहर अपने अपने इलाकों में रहा करते हैं । बेचारे “राजसेवक” दो तलवारों के बीच में हैं; वे “न इधर ही के और न उधर ही के” हैं । यहाँ दिशेष संख्या वकीलों की है, जिन्हें कुछ भी भय न होना चाहिए, कारण कि वे सर्वथा स्वतन्त्र-जीवी हैं । जो कानून नहीं जानता है वह “राजद्रोह” से डरता है, परन्तु वकील लोग राजनियमों में उत्तीर्ण हैं और ये प्रत्येक काम को निर्भय होकर कर सकते हैं, क्योंकि ये जानते हैं कि कौन विषय राजद्रोह को पहुँचता है और कौन नहीं ।

खेद है कि इस अवसर पर यहाँ के वर्काल-समुदाय ने कुछ उत्साह न दिखाया । लालाजी के आते ही आते अनेक वकीलों के तो पेसे पेसे बड़े मुक़द्दमे पेश हो गये कि उन्हें सार्वयंकाल तक लुट्ठी न मिल सकी । वे लालाजी के दर्शन भी न कर सके । यहाँवालों ने इतनी बड़ी भूल की है जो, हमें भय है, सदा उनके हृदयों को दृश्य किया करेंगी । यदि सब के हृदयों को नहीं, तो यह चिन्ता कम से कम देशभेदियों के

चित्त को अवश्य जलायेगी । शोक है कि नगरबासियों ने भूयान्य देश-सेवक के साथ उचित व्यवहार न किया । इस उपेक्षा से लालाजी का महन्त और भी बढ़ेगा, परन्तु यहाँ-चालों के हाथ अपयश ही रहा । भवभूति ने सब कहा है:—

“सुगन्धित पुष्ट का सिर पर रक्खा जाना, न कि उसका पैरों से कुचला जाना, प्राकृतिक रीति से शोभा देता है ।”*

वैष्ण शुक्र १२ शी को १० बजे दिन के लालाजी स्टेशन पर उतरं और यहाँ नगर में एक बकील महोदय के थान पर उहरे । इन्होंने प्रायः १ बजे स्थानीय गोशाला का निरीक्षण किया । तदनन्तर कुछ समय तक अनाथालय-सम्पन्नी प्रस्ताव होना रहा और यह उसी दिन सायंकाल को ३ बजे फिर पिछले पैरों वापस कर दिये गये । शोक । जब स्थानीय बकील महोदयों के यहाँ बेश्याएँ आती हैं, तब उनका जितना सत्कार किया जाता है उसका शतांश भी लालाजी का आदर न हुआ । यदि व्यास्थान दिलाने में डर था, तो उन्हें एक-आध दिन रोक कर उनका आतिथ्य-सत्कार करना सर्वथा उचित था । यह प्रश्न उपस्थित करना व्यर्थ है कि उन्हें समय ही न था, क्योंकि यदि उन्हें समय न होता, तो यहाँ पर उनके पाँच घण्टे के लिये आने ही की क्या आवश्यकता थी ? यहाँ के निवासियों का

* “नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य मिहा
मुभिस्थितिर्न चरणैरवताङ्नानि ।”
(भवभूति)

यह कर्तव्य था कि वे उनको कम से कम एक दिन तो अवश्य रोकते ।

जो होना था सो अच्छा हुआ । अब यदि इस पाप के करने पर भी भविष्य में उत्तम उदाहरण दिखा कर सीतापुर नगरवासी इसका प्रायश्चित्त कर डालें, तो भी कुशल है । हम नहीं कह सकते हैं कि भमस्त भारत को आगते हुए देख कर यहाँ के लोग किस कारण से अब भी गाढ़ लिंग्रा में पड़े हैं ? अब चैतन्य होने का समय है । भीषण को छोड़ कर सच्चे मनुष्य बनने का अवसर है । देखें यहाँ के लोग कब सचेत होकर इस अपयश के तिलक को हटाने के लिये यत्नधान् होते हैं ।

७—हरिद्वार और हुषीकेश की यात्रा ।*



ज कल जहाँ देखिए वहाँ गम्भी की अधिकता है और सूर्यनारायण अपनी उषण किरण-माला से ग्रत्येक मनुष्य को प्रतस कर रहे हैं । भारतवर्ष के “सथूल-स्तम्भ”-स्वरूप अपने यहाँ के मोटे मोटे रईस ख़स की टह्ही से आच्छादित ठण्डे कमरों में पंखों के नीचे “जीवन का आनन्द” भोग रहे हैं; उधर साहब लोग अपनी बड़ी तनस्वाहों से एक छोटी-मोटी पूँजी इकट्ठा करके मसूरी और नैनीताल की हवा के लिये हधा हो रहे हैं । आरत भारत की दरिद्री प्रजा वैसे ही दुःखाते थी, इस साल दुर्मिल्स ने उसे और भी अधिक ढीला कर दिया है । कहिए उसके लिये पहाड़ों की सुखकर और आनन्दप्रद वायु कहाँ प्राप्य है ? अँग-रेज लोग जितना द्रव्य मसूरी में केवल एक सप्ताह रहने के लिये और रेल के अवल दर्जे के किराये में व्यय कर देते हैं उतने में एक दुःखी भारतवासी कई बरसों तक चैन से समय काट

* जून १९०८ । ‘अभ्युवय’ की पृष्ठ संख्या, जून १९०८ । स्वतन्त्र । हमने हुषीकेश से लौट कर ख़ास हरिद्वार ही में हस लेख को लिखा था ।

सकता है। देश के दरिद्री मनुष्यों की दशा आवश्यमेव शोचनीय है।

अपने यहाँ के खाते-पीते लोग बिलकुल चुप साथे नहाँ बैठे हैं। ये भी स्वास्थ्यकर जलधार्यु के इच्छुक हैं, परन्तु इन्हें अकेली ऊँखी धार्यु नहाँ भाती है। ये इस आनन्द के साथ ही कुछ और भी लाभ उठाना चाहते हैं। यद्यपि ये भाग्यहीन हैं, तथापि ये “एक पन्थ दो काज” के सार को भली भाँति समझते हैं। ये मसूरी और नैनीताल को न जा कर हरिद्वार में आते और ऐहिक तथा पारलौकिक आनन्द को प्राप्त करते हैं। जिन सज्जनों ने एक बार भी इस परमानन्ददायक तीर्थराज में आने का सौभाग्य प्राप्त किया है वे, हमें पूरा विश्वास है, यह कहने में कदापि संकोच न करेंगे कि यह स्थान अपने गुणों—स्वास्थ्य-धर्ढन और आहादकरत्व—में अपनी समता नहाँ रखता है। इस स्थान की मनोमोहिनी शक्ति धर्णन के बाहर है।

हम १२ जून को लखनऊ से पंजाब मेल के द्वारा चल कर प्रातःकाल १३ तारों को हरिद्वार पहुँचे। भारी मैं-कोइ विशेष घटना नहाँ हुई, परन्तु एक दो रेलसम्बन्धी बातों का उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक है। अवध-रहेलखंड रेल पर हरिद्वार के सभीप लुकसर नामक एक स्टेशन है। हम सब अपना डेरा डाले हुए देहरा-इलाहाबादवाली गाड़ी में निश्चिन्त बैठे हुए थे कि उक्त स्टेशन पर एक किरानी साहब ने आकर यह सूचना की कि आप

लोगों को यह डिल्ला ज़रूर खाली कर देना होगा । कारण यही था कि कुछ साहब लोगों को मसूरी जाना था । साहबों के डिल्ले न्यारे ही निर्दिष्ट थे, परन्तु “नेटिन” लोगों के दर्जे पर बिना दाँत लगाये उस नाइट कैपथारी कल्ललवर्ण साहब से न रहा गया । दो-एक बार हम लोगों ने उसकी बात को सुन लिया, परन्तु फिर हम सब ने पूरी विरोध करने की ठानी । इस पर रेल कर्मचारी भी कृपा करके शान्त हो गये ।

कुछ दिन हुए पौप साहब के समय में इस कम्पनी का प्रबन्ध इलाधनीय था । अब न जाने क्यों इसके प्रबन्ध में अनेकानेक त्रुटियाँ घुसी आती हैं । छोटी छोटी बातें जाने दीजिए । इस लाइन में, बहुत दिन नहीं हुए, बड़ी हृदय-विदारक दुर्घटनाएँ हो चुकी हैं । हम लोग गाजियाबाद-डस्तावाली भयबुर रेल-दुर्घटना को भूलने लगे थे, परन्तु हृषीकेश में इसी दुर्घटना-प्रदण्ड एक यात्री-समूह का साथ हो जाने से हम सबका शोक पूर्व के समान ही नहीं, प्रत्युत दूना हो गया । उन बेचारों के साथ एक शोक-विहृत विरागिनी लड़ी थी । उसे देख कर हम सबको विराग होने लगा और नेत्रों में अश्रु न रुक सके । हाय ! इसी लड़ी का एक बारह वर्ष का प्राणप्रिय पुत्र इस दुर्घटना की आग में जलि हो चुका था । ये प्रातःकाल से सायंकाल तक अपने हृदय के दाह से पीड़ित रहते थे । यद्यपि उस भयानक हत्याकाण्ड को हुए प्रायः ढेर महीना हो गया है, तथापि इनका शोकावेग “बहुत ही तीव्र, धारा के समान बहनेवाला, और पुराना हो जाने पर भी

नये ही के समान था । वह आरे के सदृश मर्म सानों को चीरता हुआ किसी समय भी न रुकता था”* । कंपनी की उपेक्षा के कारण एक नहीं, दो नहीं, सैकड़ों घर ऐसे ही उजाड़ हो गये हैं । कोई पतिवियोगिनी खी अपने प्राणप्यारे के लिये ठण्डी साँसें ले रही है और कोई शोकदण्ड जननी अपने जीवनावलम्ब प्रिय पुत्र के अर्थ अपना हृदय विदीर्घ कर रही है । आशा है कि उक्त रेलवे कम्पनी इन सब त्रुटियों को दूर करके यात्रियों के शुभाशीर्वाद को प्रहरण करेगी—अस्तु ।

गत वर्ष की अपेक्षा इस साल हरिद्वार में बहुत कम मेला हुआ । भयंकर युर्भिक्ष और उससे उत्पन्न घार दुख ही इस न्यूनता के कारण हो सकते हैं । यहाँ पर अनेक देव-मन्दिर और धर्मशालाएँ हैं, इससे यात्री को रहने का दुख होने की सम्भावना नहीं है । हम पार्वत हृश्य और गाङ्गा सौन्दर्य का वर्णन आगे करेंगे । यहाँ माया देवी, चण्डी महारानी, विलवकेश्वर महादेव, सूर्यकुण्ड और कनकल में दक्ष प्रजापति का मन्दिर दर्शनीय हैं ।

प्रायः दो वर्ष हुए हरिद्वार और ज्वालापुर स्टेशन के मध्य में ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम की आपना की गयी थी । ईश्वर की कृपा से वह अब तक जीवित है । हम उसकी दीघोंगु के लिये

* “पद्मधरावाही नव दून चिरेणापि हि न मे,

निकृतमर्माणि क्रकच इव मनुविरेमति ॥”

भगवान् से प्रार्थना करते हैं । सहानुभूति की ग्यूनता और मनोमलिनता के हो जाने से अपने यहाँ की अनेक संस्थाएँ गड़बड़ा चुकी हैं । उसी वैमनस्य के भीज को, सुना आता है, किसी ‘महात्मा’ ने इस पुण्यस्थली में भी डालने का साहस किया है । यह आश्रम सब प्रकार से पोषणीय है । हमें आशा है कि प्रत्येक हिन्दू कुछ न कुछ देकर इस पवित्र ऋषिकुल की सहायता करेगा । इस आश्रम के अधिकारियों से निवेदन है कि वे वैमनस्य को हटा कर इसका प्रबन्ध एक सुविधित तथा सुयोग्य सभा को दें और इसे चिरस्थायी तथा उपयोगी बनावें ।

१५ जून को ग्रातःकाल हृषीकेश के लिये तैयारी हुई । बैलगाड़ी के सिधा वहाँ तक घौर कोई सघारी नहीं जाती है । मार्ग में दो-एक शानें में पहाड़ पर चढ़ कर उतरना पड़ता है । यहाँ के लोग कोसों को ‘भील’ कहते हैं । पहले सुनते थे कि हरिद्वार से हृषीकेश १० ‘भील’ है । हमने सोचा था कि अपने हिसाब से केवल ५ कोस चलना होगा, परन्तु उनके शान में हमें १० कोस का मार्ग नापना पड़ा । रास्ते के पथरीले होने के कारण बैलगाड़ी को बहुत हिलना घौर ‘लड़खड़ाना’ पड़ता है । हृषीकेश-यात्रा में गाड़ी के आन्दोलित होने के कारण घौर रूप से उदर-मन्थन हो जाता है । लौटते समय एक अति स्थूलाङ्क सेठजी का घौर हमारा साथ हुआ । जिस समय पत्थरों के ऊपर चढ़ कर गाड़ी खट से नीचे गिरती थी, तब घौर

बेचारे सेठ अधिमरे हो जाते थे । रास्ते में आधी दूर पर सत्य-नारायणजी का मन्दिर पड़ता है । हृषीकेश में भरतजी के दर्शन और गंगा-स्नान मूल्य हैं । यहाँ पर बाबा कालीकमलीघाले की धर्मशाला में यात्रियों को बड़ा सुख मिलता है । इसके कर्म-चारी योग्य और नम्र हैं ।

हम १६ जून को ग्रातःकाल हृषीकेश से आगे बढ़े । यहाँ सवारी नहीं जाती है और अपने पैरों ही से काम लेना पड़ता है । उक्त स्थान से प्रायः पैने दो कोस लक्ष्मणझूला है । रास्ते में पहले पहल केलास-विद्या-मन्दिर, तदनन्तर शत्रुघ्नजी का देवालय, फिर ब्रह्मलीन स्वामी रामतीर्थजी एम० ए० का सारकरूप 'श्रीरामाश्रम,' और लक्ष्मणजी की विशाल मूर्ति यात्रियों को अवश्य देखनी आहिए । यहाँ पहाड़ और गङ्गाजी के सुन्दर हृश्य अकथनीय हैं । लक्ष्मणझूला अत्यन्त रमणीय स्थान है । इस स्थान में गंगाजी का पुल नीचे से कोठियों पर नहीं, बरन ऊपर स्प्रिंगदार लोहे के छुट्टे रस्तों पर अवलम्बित है । बीच पुल पर प्राप्त होते ही वह बड़ा निराधार हिंडोला झूलने लगता है । लक्ष्मणझूला तथा हृषीकेश के आनन्द का अनुभव करके १६ तारीख की रात्रि में हम सब हरिद्वार वापस आये और अब १९ की रात्रि में भकान के लिये प्रस्थान करने का विचार है ।

इक्कीसी स्थानों के वर्णन के साथ श्री गङ्गाजी की अलौकिक छटा का निरूपण करना अत्यन्त आवश्यक है । हरिद्वार

के आगे जितना पूर्व को बढ़िए उतना ही गङ्गाजी के साथ अनेक प्रकार के अन्यायों के होने के कारण इस पतितपावनी नदी की दशा दूषित होती गयी है । हरिद्वार में भागीरथी के देख और तेज को देख कर कोई नहीं अनुमान कर सकता है कि प्रयाग आदि स्थानों में यह अत्यन्त उथली और मन्द हो जावेगी । यहाँ पर यैवन से भरी हुई कोमलाञ्जी, परन्तु प्रबल, और सुन्दरी, परन्तु विशाल मूर्तिमती, गङ्गा देख पड़ती है । अपनी रमणीयता और सरसता से तटवासियों को निरन्तर मोहित करना इसका मन्त्र है । इसके ऊपर हृषीकेश और लक्ष्मणशूला में आप गङ्गा-बालिका को झूलते हुए पाइएगा । वहाँ यह हठीली लड़की के सहश कहाँ हँसती, कहाँ खेलती, कहाँ चिल्हाती, और कहाँ पर गाती हुई हृषिगोचर होती है । उस स्थान पर इस विशाल तेजस्वी बालिका का रूप अद्भुत है । वहाँ पर इसे अपने मित्र पर्वत और धन की गोद में, तथा अपने पथरीले झूले पर लिलिखिला कर दौड़ते हुए देख कर देखनेवाले के चित्त में असीम आनन्द होता है । लक्ष्मणशूला के समीप वन्य और पार्वत दृश्य गङ्गाजी की और स्वयं भागीरथी उनकी शोभा बढ़ाती है । यहाँ पर गङ्गा का अदूषित रूप, अप्रतिहत तेज, और चढ़ती हुई घौवना-घस्ता का बल दिखायी देता है । जिन्हे गङ्गाजी की स्वाभाविक मधुरता, शीतलता और सुस्वादुता का आनन्द चखना हो उन्हें उक्त स्थान अवश्य देखने चाहिए । इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ वे भागीरथी के अनुपम सौन्दर्य, अलौकिक प्रकाश, अनु-

१८४

चतुर्थ भाग ।

लनीय लावण्य, अप्रतिम रूप, अपरिमेय तेज और अकथनीय
प्रभाव से अवश्य मोहित होकर यहाँ के आनन्द और सुख
को सदा स्मरण रखेंगे ।

८—श्लोक-पुष्पाञ्जलि का आशय ।*

१—यह कैनिंग कालेज अवध में शोभा दे रहा है
चौर अपने गौरव से सबके आनन्द को
बढ़ाता है ।

२—इसके प्रभाव से वास्तव में शिक्षा का
बहुत कुछ प्रचार होगया है चौर इसमें पढ़े
हुए अनेक विद्वान् दिखायी देते हैं ।

* मार्च १९०६ । स्वतन्त्र । जब शाक्षात्कार बाग, लखनऊ, में कैनिंग कालेज के नवीन भवन की नींव दी गयी थी, उस समय पढ़े जाने के लिये प्रधानाध्यापक श्रीयुत ए० युच० पीरी महोदय की आज्ञा से हमने नींवे लिखे हुए श्लोक बनाये थे । उन्हीं का आशय हम ऊपर दे रहे हैं । आठने के लिये हमारे प्रधानाध्यापक महोदय ने इनको छपवा भी लिया था । उस समय की सभा में हमने स्वयं इन्हें पढ़ा था:—

आजतेऽवध्येशोऽयं कैनिंग-पठनालयः ।

प्रतिपन्थाहि सर्वेषामालहावजनको महान् ॥१॥

नूनमस्य प्रभावेण शिक्षा वै प्रसूरीकृता ।

दद्यन्ते वहवः प्राज्ञा अन्नाध्यमनदीचिताः ॥२॥

३—वे हर्ष के साथ इस ज्ञान कं देनेवाले, बड़े उपकार के करनेवाले और चरित्र के सुधारनेवाले कैनिंग कालेज का बारम्बार स्मारण करते हैं ।

४—सर जान हेवेट (तत्कालीन छोटे लाट) के द्वारा स्थापित यह कैनिंग कालेज का नवीन और विशाल मन्दिर बहुत समय तक सुशोभित रहे ।

५—पहिले पहिल विद्या पढ़ाने की इच्छा से अवधि के अनेक बुद्धिमान् और विचारशील सज्जनों ने लोकोपकार के लिये इसका स्थापन किया । आज इस बादशाह बाग में इसी का नवीन भवन बन रहा है; ईश्वर करे कि श्रीयुत पीरी, कैमरन और बाड नामक अध्यापकों सं युक्त यह विद्यालय (सदा) शोभा दे ।

- - -

त पुनः ज्ञानदातारं महान्तसुपकारिणम् ।

निर्मातारं सुवृत्तस्य संरमरन्ति सुखान्विताः ॥३॥

सरेस्युपाधियुक्तेन जानहेष्वेन स्थापितम् ।

विरं शोभेत सुनवं विशालन्वस्य मन्दिरम् ॥४॥

पुर्वे बुद्धिविचारसारपरमैविद्याप्रदानेष्वुभि-
स्यस्य स्थापनमावधीय सुजनैर्लोकोपकृत्ये कृतम् ॥

सोऽयं सम्प्रति बादशाहरसेषोद्याने नवो इच्छते ।

श्रीमतीरिचिवार्डकैव्रनयुतो विद्यालयश्वेभताम् ॥५॥

६-सूर्य के समान उज्ज्वल और स्मिथ इत्यादि अध्यापकों से भी संयुत इस कल्याणकारी तथा विष्वान विद्यालय की दिनों-दिन उन्नति होती है ।

७-यह उत्तम गुणों से अलंकृत और सज्जनों के द्वारा बोया हुआ बीज बढ़े । यह श्रीयुत डाकूर ह्वाइट के द्वारा पला हुआ पुष्प शोभा को प्राप्त होता है । इस प्रकार से इस समय कल्याणक के समान यह उत्तम विद्यालय सुशोभित हो और यह कैनिंग-कालेज (सबको) उत्तमता के साथ विद्या का सुख देता है ।

अथं प्रख्यातनामा हि शुभो जुटस्मिथादिभिः ।

वर्धतां वर्धताश्चित्यं मार्तण्डकिरणोउज्ज्वलः ॥६॥

उपं दिव्यगुणैरलङ्कृतनरैर्बीजं त्विदं वर्धताम् ।

श्रीमङ्गडाकटरह्वाइटेन सुधनं पुष्पं त्विदं आजताम् ॥

एवं सम्प्रति कल्याणदपनिभो वृक्षोत्तमो राजताम् ।

कैनिंग-कालेज-नामकेन सुनरां विद्यासुखं दीयताम् ॥७॥

६—परिणित हरिदत्तजी शास्त्री ।

नम एवं मरण इस संसार मृत्युलोक का एक साधारण वैनिक नियम है। यह निश्चय है कि जिसने जन्म लिया है वह पक्ने एक दिन अवश्य इस संसार को छोड़ेगा, परन्तु जिस मनुष्य ने अपनी असाधारण प्रतिभा तथा अलौकिक निष्पत्तता से देश के अधिकांश पर अपने विशाल अस्तित्व का प्रतिपादन करके बहुत मनुष्यों की हास्तियों में अपनी देवीप्रभान प्रभा का प्रभाव उत्पन्न कर लिया हो उसके विषय में इस साधारण एवं लौकिक घटना—इस शारीरिक पर्यंतसान-सम्बन्धी अनिष्ट समाचार—को सुन कर अवाक् ही रह जाना पड़ता है। यही नहीं, जरन अन्त में उस हृदय-चिदीर्गी-कारी वृत्त की सत्यता के प्रमाणित होने पर यह आश्चर्य शीघ्र ही हार्दिक तुःख तथा प्रचुर अशुपात को सान देता है।

इम लोगों की ठीक यही दशा नैनीताल डिला के अन्तर्गत शिल्पाटी-भीमताल-निवासी पूज्यपाद श्री पण्डित हरिदत्तजी शास्त्री के तुःखजनक परलोकवास से हुई। आज ज्योतिष शास्त्र का

* फ्रूटवरी १९११। “मर्यादा” भाग २, संख्या ४, पृष्ठ १५६—१६६। स्वतन्त्र।

एक प्रकाशमान रङ्ग संसार से उठ गया और एक कर्मनिष्ठ, शास्त्रीय-विद्या-निषुण तथा पवित्र महात्मा का अभाव हो गया । परलोकवासी शास्त्रीजी को कमाऊँ के रहनेवाले विद्वान् भलीभाँति जानते थे, और अपने देश में भी विद्वन्मण्डली में इनके पवित्र एवं विश्वत नाम से बहुत कम लोग अपरिचित हैं । वही प्रस्तावनामा और स्वनामधन्य पण्डित हरिदत्तजी शास्त्री अब इस संसार में नहीं हैं और इनका पूर्ण परिचय-जन-मण्डल इनके चिर विद्योगजन्य असद्य सन्ताप से दुःखित हो रहा है ।

संवत् १९०० में पण्डित हरिदत्तजी शास्त्री का जन्म, कमाऊँ प्रदेशान्तर्गत शिलौटी “छुखाता” आम में, हुआ था । इनके पिता, पितामह एवं प्रपितामह बड़े बड़े विद्वान् होते चले आये हैं । यह वंश कमाऊँ के राजाओं का राजन्योत्तिष्ठी रहा । शास्त्रीजी के पूज्य पिता का नाम पं० गङ्गादत्तजी था । बाल्य-वस्त्रा ही से पं० हरिदत्तजी प्रतिभाशाली और कुशाग्रबुद्धि थे । आरम्भ से इनके पितामह पं० नारायणकुमारजी ने इनको विद्याध्ययन कराया और अपने हाथों से इनका उपनयन एवं विवाह-संस्कार किया । अनन्तर इनके पिता पं० गङ्गादत्तजी ने इनको ज्योतिष के बड़े बड़े ग्रन्थ पढ़ा कर इस शास्त्र में भली-भाँति निष्पत्त किया तथा तन्त्र-शास्त्र का भी अभ्यास कराया । अहमांडा-“कष्टोन”-निवासी पण्डित लक्ष्मीदत्त जोदी ने पं० हरिदत्तजी को शिरोमणिसिद्धांत, गोलाध्याय, लीलावती इत्यादि पढ़ाया ।

१८ वें वर्ष ही से पं० हरिदत्तजी अपनी विद्या पर्व बुद्धि का अद्भुत चमत्कार दिखाने लगे । इनमें वैलक्षण्य पर्व तेजस्विता के लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाया देते थे । ज्योतिष-विषयक प्रश्न तथा कुण्डलों के चामत्कारिक योगों के बतलाने में यह अपने पिताजी की अपेक्षा भी अधिक निपुण्य को प्रकट करने लगे । इनकी सरणशक्ति अद्भुत थी, यहाँ तक कि यदि किसी समय पहिले की देखी हुई कुण्डली को यह दश वर्ष बाद भी देखते थे, तो यह फट से कह देते थे कि अभुक समय पर इतने वर्ष पूर्य हमने यह जन्मचक्र देखा था । धीरे धारं अनुभव के बढ़ने के साथ यह ज्योतिष-विद्या में इनने प्रवीण हो गये । इनमें इनना असाधारण बल आ गया—कि यह प्रश्नों के अत्यन्त आश्चर्यजनक उत्तर देते थे । लोग बहुधा यह कह देते थे कि ‘जान पड़ता है कि पण्डितजी को यक्षिणी आदि सिद्ध हैं,’ परन्तु था यह कुछ भी नहीं, इनकी वही असाधारण निपुणता इनको चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ बनाती थी ।

एक समय बरेली के प्रसिद्ध रहेस राय साहब पीतमराय ने इन से अपने किसी बीमार प्रिय जन के बारे में यह प्रश्न पूछा कि रोगी कब अच्छा हो जायगा । पं० हरिदत्तजी के विचार में आया और वही कहना पड़ा कि आज से १५ वें दिन उसका शरीर-पात हो जायगा । राय साहब ने अन्य २०—२५ पण्डितों की सम्मति से आरोग्यलाभ के लिये शनवर्षणी का प्रारम्भ किया । पहिले तो रोगी का चित्त अच्छा होने लगा, परन्तु ठीक १५ वें

दिन उसे प्रबल मुर्छा आयी थीर दिन में ४ बजे वास्तव में उसके प्राण छूट गये । इस अद्भुत विचार का हाल बरेली के अनेक बड़े-बड़े लोग जानते हैं । यह इसी तरह की सेकड़ों विस्तारजनक बातें अनायास बतलाया करते थे ।

यह २४ वर्ष की अवस्था में हरिद्वार में महाराजा बहादुर काश्मीर से मिले । महाराजा साहब इनकी विलक्षण प्रतिभा पर अत्यन्त मुश्व द्वारा । भूतपूर्व ठिहरी-नरेश महाराजा प्रताप-शाह बहादुर भी इसी तरह से इनसे अत्यधिक प्रसन्न हुए । वर्तमान ठिहरी-नरेश महाराजा कीर्ति शाह बहादुर पण्डित हरिदत्तजी शास्त्री की बड़ी प्रतिष्ठा करते थे और सदा सत्कार करते रहे । अयोध्यानरेश स्वर्गवासी महाराजा प्रताप नारायण-सिंह एवं अवध प्रान्त के अनेक बहुत बड़े बड़े तथा लुकदार इनको बड़े मान की हप्ति से देखते थे और इनकी चमत्कारजनक ज्योतिष-विचार-सम्बन्धी प्रवीणता पर बहुत मोहित थे । ताजपुर-हल्दौर के राजा इनकी बहुत श्रद्धा करते थे । यह पहिले ही से बहाँ पर गुरुवत् माने जाते थे । यह कुल परम्परा से काशीपुर-राज (कमाऊँ) के द्वारा सम्मानित रहा है । अब तक भी महाराजा काशीपुर शास्त्रीजी की अत्यन्त अधिक प्रतिष्ठा करते रहे हैं । इसी तरह से सभी पवर्ती समस्त राजमण्डल, अलमोड़े के राजा एवं बरेली के अनेकानेक बड़े बड़े प्रसिद्ध सज्जन इनमें बड़ी भक्ति रखते थे और हृदय विश्वास करते थे । यही नहाँ कि केवल हिन्दू महानुभावों ने इनका सम्मान किया है, बरन रियासत

रामपुर के भूतपूर्व नवाब, नवाब छतारी प्रभृति अनेक मुसलमान महापुरुष, बड़े बड़े अफ़्सर और बहुत से मुश्किल सज्जन लोग अपने हृदय से इनकी प्रतिष्ठा करते थे और सब तरह से इनका सम्मान करते थे । आज भी सैकड़ों पूर्णविद्या-सम्पद एवं बड़े बड़े शोहदेदार लोग इनके हृदय शिखियों में परिगणित हैं । ५० हरिदत्तजी ने अपने ज्योतिष-शास्त्र-नैपुण्य से कितने ही जैनी, आर्यसमाजी और कहुर नातिकों को भी सनातनधर्मानुयायी बनाया ।

केवल कमाऊँ ही नहीं, बरन युक्तप्रदेश भर में ५० हरिदत्तजी शास्त्री के समान फलित ज्योतिष का गम्भीर और प्रबल ज्ञाता कदाचित् ही कोई दूसरा हुआ होगा । यह इस विषय—फलित ज्योतिष—में प्रायः अद्वितीय थे । ज्योतिष-शास्त्र की अनेक व्यवस्थाएँ तथा कुण्डली काशी के पण्डितों को दिखा कर लोग इनके पास भेजते थे । मूक प्रश्नों के बतलाने में इनके समान बिरला ही कोई दूसरा विद्वान् था । एक मनुष्य मात्र की कुण्डली को देख कर समस्त कुदुम्बियों और सम्बन्धियों का हाल कहने तथा उसी से सारे जीवन की भूत और भविष्य घटनाओं के वर्णन करने की अद्भुत शक्ति इन्होंने मैं थी । भूत मनुष्य की कुण्डली को देख कर यह तुरन्त कह देते थे कि यह व्यक्ति अमुक धर्ष मर गया, इसका जन्मचक्र हमारे गास किस प्रयोजन से लाये हो । यह सभी भाँति के विचार स्पष्ट शब्दों में निश्चय के साथ बतला दिया करते थे ।

उधर इनमें विद्या का असाधारण बल वर्तमान था, उधर उपासना और सदाचार की विलक्षण शक्ति भी इनमें पूर्ण रूप से विद्यमान थी । यह बड़े सदाचारी, धर्मनिष्ठ, कर्मनिष्ठ तथा सच्चे भगवदुपासक थे । यह प्रतिदिन प्रायः ढेर पहर भगवदुपासना में व्यतीत करते थे । यह रात्रि में भी ८ बजे से प्रायः १२ बजे तक विविध अनुष्ठान तथा पूजा-पाठ किया करते थे । इन्होंने गायत्री, सावित्री और सरस्वती के सवा सवा लक्ष के पुरश्चरण १८ घण्टे की अवस्था से मरण पर्यन्त किये । यह नवरात्रियों में दुर्गापूजा तथा ब्रत पूरी भक्ति और बड़े विद्यान से किया करते थे । इनका पवित्र तथा विशाल शरीर ब्रह्मतेज से देवीव्यमान देख पड़ता था ।

यह बहुत ही सुशील और सीधे-सादे स्वभाव के पुरुष थे । इनको स्वप्न में भी अपनी प्रतिष्ठा का अभिमान नहीं होता था । यह बड़ी प्रीति के साथ छोटे और बड़े सभी से मिष्ठ भाषण करते थे । इनको क्रोध आते देखा ही नहीं गया । हार्दिक प्रसन्नता-सूचक आहादकारी मुसकान से इनका मुख-कमल सदा प्रफुल्लित रहता था । यह एक दरिद्री किसान तक से बड़े आदर और स्नेह से वार्तालाप करते थे । इन्होंने बिना किसी स्वार्थ के गुरीबों की बहुत कुछ चिकित्सा की और बिना मूल्य सैकड़ों रुपयों की वैष्णवी बांटी । इनमें ज्योतिष-शास्त्र के अलौकिक परिज्ञान के साथ साथ वैद्यक शास्त्र के भी गुरों का वर्तमान होना वास्तव में सोने में सुगन्ध था । इनके घर पर बड़े

बड़े शिक्षित तथा प्रतिष्ठित लोगों की भीड़ लगी रहा करती थी ।

संवत् १९३५ में पं० हरिदत्तजी को पितृ-वियोग का शोक हुआ । इसी वर्ष इनके द्वितीय पुत्र पण्डित मुकुन्दरामजी का जन्म हुआ । संवत् १९४० में तृतीय पुत्र पण्डित रामदत्तजी का जन्म हुआ । पण्डितजी को अपने सामने ही अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीकृपालुदत्त जी के कैलास-वास का असहा दुःख उठाना पड़ा । यद्यपि इनकी अवस्था ६७ वर्ष की थी, तथापि इनका शरीर हृष्टपुष्ट एवं नीरोग था, इनकी हृष्टि वैसी ही शक्ति-सम्पन्न थी, और इनको वशमे की बिलकुल ज़रूरत नहीं पड़ती थी । इधर दो वर्षों से इनको एक प्रकार का मूर्छा रोग हो गया था । समय समय पर इसका दौरा हुआ करता था; इसीके कारण इनमें कुछ मानसिक नैर्बल्य आने लगा था, और सिर में कभी कभी चक्ररूप सा आजाता था । बहुत कुछ शोषणियों की गयीं, परन्तु सब निष्फल हुईं । दैव की इच्छा बड़ी प्रबल है; माघ शुक्ल ८ को इन पर मूर्छा का एक प्रबल आक्रमण हुआ । इससे यह ससाह पर्यन्त अवैत रहे । सात दिन निरशान ब्रत करके तथा गायत्री का जप और भगवद्गीता का पाठ अवगत करते हुए, माघ शुक्ल १४ सं० १९६७ को, यह अपना पाञ्चमैतिक शरीर छोड़ कर परम धाम को सिधारे । इनकी मृत्यु के साथ योतिषशाखा का एक शुद्धत तथा देवीप्रसान्न नक्षत्र अस्त होगया, तन्त्रशाखा एक अपने निषुण पुरुष से

वंचित हो गया, और भारतवर्ष का एक उद्घट विद्वान्—एक जगमगाता हुआ रह—हम लोगों के हाथ से छिन गया ! आज कमाऊँ प्रदेश के हजारों और भारतवर्ष के अनेक ज्योतिष-प्रेमी इनके असत्य वियोग से अश्रुपात करते हुए दुखित हो रहे हैं । भगवान् इनकी पवित्र आत्मा को शान्ति और अक्षय सुख दें ।

पण्डित हरिदत्तजी अपने पीछे चार भाई, दो पुत्र और एक पौत्र छाड़ गये हैं । हर्ष का विषय है कि इनके छाटे पुत्र पण्डित रामदत्तजी ज्योतिर्बिद् अपनी कुल-परम्परा पर पूर्णतया स्थित हैं । यह भी कर्मनिष्ठ, ज्योतिषशास्त्र में निषुण तथा स्वभाव में ठीक अपने पिताजी के समान हैं, और कुछ समय बाद ही बहुत उन्नत होने के लक्षण दिखा रहे हैं ।

१०—मसूरी पहाड़ ।*

अंचे पर्वत भगवान् की विचित्र रचना-शक्ति
के बढ़िया आदर्श हैं। विकट गर्मी के दिनों
में अपने यहाँ देश की ओर उसी समय
इन अंचे पहाड़ों की दशा का मिलान करने
से इस बात का पूरा पूरा परिचय मिलता है। जब वहाँ
जलते हुए सूर्य की तेज़ किरणों वनस्पति-संसार के सौन्दर्य
को जला कर भस्म कर डालती हैं, उन दिनों में यहाँ हरे हरे
चमकदार पत्तों से युक्त लहलहाते हुए वृक्ष और मुसकराती
हर्दे कुञ्जे इस ऊँची-नीची पहाड़ी भूमि की सुन्दरता को
चौगुनी कर देती हैं। जिस समय देश में भयझर लू अपने
प्रचण्ड वेग से नगरों को और गाँवों को जख से हिला देती
है, तब पर्वतों की सुगन्धित और चन्दन के समान शीतल

* दिसम्बर १९११। मर्यादा भाग ३, संख्या ४, पृष्ठ १६२—१७२।
स्वतन्त्र। हमने इस लेख को इस पहाड़ पर प्रायः नौ महीना रहने के
बाद यहाँ से चलते समय खास मसूरी ही में लिखा था।

वायु सभी प्राणधारियों और वृक्षों के शरीर में एक अद्भुत शक्ति का सञ्चार करती है। इसी तरह से जब वहाँ का जल बेढ़ब गर्मी के कारण अपने स्वाभाविक गुण—शैत्य—को भी छोड़ बैठता है, उस समय पहाड़ी भरनों का साफ़, ठण्डा और मीठा पानी चास्तब में एक अलौकिक आनन्द का कारण होता है। अपने देश की दशा से ऊँचे पहाड़ों की परिधि इतनी ज्यादा विलक्षण है कि वहाँ से ज्येष्ठ की दहकती हुई गर्मी से यहाँ आते ही नीचे के सब कष्ट भूल जाते हैं और सब और आनन्द ही आनन्द की बाटिका हरी-भरी दिखलायी पड़ती है। पर्वतों के इन्होंने विचित्र गुणों के कारण, और देश की प्रबल गर्मी से बचने के लिये 'भारतवर्ष' भर में धीरे धीरे कई एक पहाड़ी शहर बस गये हैं। यह "मसूरी पहाड़" भी, नैनीताल और अलमोड़ा के सिवा, अपने युक्त प्रदेश में एक रमणीय और पहाड़ी नगर है।

मेरठ की कमिशनरी में देहरादून बिलकुल उत्तर का ज़िला है। इसके उत्तर में हिमालय पर्वत की कुछ नीची श्रेणी पर और समुद्र के तल से ग्राम: ७००० फ़ीट की ऊँचाई पर यह मसूरी नगर बसा हुआ है। ज़िला देहरादून में नियत अँगरेज़ी फ़ौज के एक बड़े अफ़सर ने पहले पहल सन् १८२३ई० में वर्तमान "कैमेलस बैक" पहाड़ी पर एक स्थान में अपने शिकार खेलने के लिये एक मचान और छोटा-मोटा मकान बनवाया। यहाँ के स्वास्थ्यकर जल-वायु पर मोहित होकर

और ऑगरेज़ लोग भी उसके बाद आने लगे और सन् १८२७ में गवर्नरमेट ने “लैंडोर पहाड़” पर रोगी गोरों के रहने के लिये कुछ मकान तैयार कराये । अनन्तर यहाँ ऑगरेज़ों का आना-जाना बढ़ना ही गया और इसी तरह से धीरे धीरे यह हराभरा मसूरी नगर आज अपने वर्तमान रूप को पहुँचा है । अब यह कोई ५-६ मील के बेरे में बसा हुआ है और गर्मी की ऋतु में इसकी जन-सख्त्या प्रायः १६००० तक पहुँच जाती है—वैसे साधारणतया इसकी आबादी क़रीब क़रीब ६००० के है । जाड़ों को छोड़ कर देहरादून के कलेक्टर और मेरठ के कमिशनर अधिकतर यहाँ रहते हैं । उस समय देहरादून के जज़ख़फ़रीफ़ा और पुलिस सुपरिनेन्डेन्ट प्रायः मसूरी ही में वास करते हैं । यहाँ एक डेप्युटी मैजिस्ट्रेट बारहों महीना रहता है और इस स्थान का एक सिविल सार्जन भी देहरादून से न्यारा ही है । स्थानीय म्यूनीसिपैलिटी अपना काम भलीभांति चला रही है । कदाचित् इसके केवल दो सभासद् हिन्दुस्तानी हैं और बाक़ी सब ऑगरेज़ हैं । सड़कों की मरम्मत और सफ़ाई पर पूरा ध्यान दिया जाना है । गत गर्मी की ऋतु में पानी बहुत कम बरसा था और इस कारण से पहाड़ के स्वभाव को देखते हुए यहाँ कुछ गर्मी की पड़ने लगी थी । उन दिनों में सड़कों के छिड़काव का बड़ा अच्छा बन्दोबस्त था । म्यूनीसिपैलिटी ने प्रयत्न करके भद्रागांव के नीचे एक बड़े पानी के गिराव से कल-द्वारा बिजली की शक्ति के सक्षय का प्रबन्ध कर लिया है और इसकी सहायता

से अभी लैंडोर पहाड़ को छोड़कर कुल शहर में बिजुली की रोशनी की जाती और पानी ऊपर को पम्पों में पहुँचाया जाता है। इन बातों से मसूरीवासियों को बड़ा सुभोता रहना है, परन्तु यदि कहाँ दुर्भाग्यवश बिजुली का पर्जिन कुछ बिगड़ गया, जैसा कि गत एग्रिल में यहाँ हमारे आने के कुछ ही समय बाद हुआ था, तो फिर रोशनी से एकदम हाथ धोना पड़ता है और साथ ही पानी के लिये नीचे भरनों को मीलों जाना पड़ता है। यह हर्ष की बात है कि प्रबन्धक लोग दो ही चार दिनों में अपनी कल ठीक कर लेते हैं और पहिले की तरह फिर काम चलने लगता है—ग्रस्तु !

मसूरी आने के लिये अवध दैहलखंड रेलवे के लुकसर स्टेशन पर पहिले उतरना होता है। यहाँ से फिर दैहरा-दैहरा रेलवे में बैठ कर दैहरादून स्टेशन तक यात्रा करनी पड़ती है। यही इस लाइन का अन्तिम स्टेशन है। रेल पर से कुछ पहिले ही से बहुत दूर ऊँचे पर सामने मसूरी का हृष्ट बड़ा मनोरम दिखायी देता है, और यदि उस समय रात हुई, जैसा कि मार्च, एग्रिल अथवा आकूटबर में प्रातःकाल ५ बजेवाली गाड़ी में आने से होता है, तो आकाश में मानो लटकी हुई इस नगर की दीपमालिका हृदय पर विचित्र भावों को उपजाती है। दैहरा-दून से पहाड़ के नीचे राजपुर तक तींगा, बग्धी या टमटम पर जाना होता है। यह ७ मील का सफर प्रायः एक घण्टे में हो जाता है। यहाँ पर से मसूरी की चढ़ाई शुरू होती है। यह

बाकी ७ मील की यात्रा डांड़ी या घोड़े पर करनी होती है। राजपुर स्वयमेव समुद्रतल से ग्रायः ३००० हजार फीट ऊँचा है। यहाँ से चल कर आधी दूर पर भड़ी-पानी नामक स्थान है। यह ५२०० फीट की ऊँचाई पर है। यहाँ पर "जलपान" करने का अच्छा सुभीता है। इसके कुछ ही ऊपर नेपाल के भूतपूर्व महामन्त्री महाराजा वेवशमशेरजंग बहादुर का बढ़िया और सुन्दर "फेयरलान" नामक निवास-स्थान है। इसकी सजावट देखने के योग्य है। इसके आगे ग्रायः २ मील चल के बालेंगंज पड़ता है। यहाँ से थोड़ी-बहुत मसूरी की बस्ती शुरू हो जाती है। इस जगह से एक रास्ता नीचे "किंताक धर" की ओर की चला आता है और दूसरा बायें हाथ की ओर कुछ और चढ़ाई के बाद "लैंडोर पहाड़" को जाता है। डांड़ी पर ग्रायः दो-ढाई घंटे और घोड़े पर अधिक से अधिक ढेर घंटा मात्र मसूरी तक आने में लगता है। पहाड़ी लोग असज्जा लेकर ग्रायः ३-४ घंटों में आते हैं। ये इतने ईमान्दार होते हैं कि इनके पास से किसी चीज़ के चोरी जाने का सटका नहीं रहता है।

वर्तमान समय में मसूरी की बस्ती उत्तर से लेकर कुछ दूर तक दक्षिण की ओर फिर वहाँ से सीधे पश्चिम की ओर फैली हुई है। साधारणतया यहाँ की मुख्य सड़कें समुद्र-तल से ग्रायः ६५०० फीट की ऊँचाई पर हैं। इन पर चलते हुए कहाँ पर दाहिनी ओर कहाँ बायीं ओर भी अधिक सैकड़ों फीट ऊँची

पहाड़ियाँ और पहाड़ हैं । इन सब पर और सड़कों के नीचे की ओर पत्थरों का बारूद से उड़ाया काट कर उत्तम उत्तम खानों में सैकड़ों कोठियाँ तैयार कर ली गयी हैं । इनमें से अधिकांश किराये पर उठा करती हैं और कुछ भलेमानसों और अँगरेज दूकानदारों की लिज की भी हैं । इस शहर की आबादी अब भी दिनों-दिन बढ़ती जाती है । यदि यह ऐसे ही ज्यादा होती गयी, तो इस बात में बुछ सन्देह है कि इसका जल-वायु इतना ही अधिक अच्छा बना रहेगा । मसूरी की वस्ती के नीचे लिखे हुए मुख्य अड्डे हैं:—

१—“लैंडोर पहाड़ ।” यह इस नगर की पूर्वोत्तर कोण की सीमा पर है और इसकी सबसे अधिक ऊँचाई ७५३३ फ़ीट है । यह मसूरी भर में सबसे ऊँचा स्थान, इसी पहाड़ पर रोमन कैथोलिक गिरजाघर के समीप ही, ऊपर को कुछ पूर्व की ओर है । इससे कुछ दूर और पूर्व को हट कर “लाल टिबा” नामक खाटी है और यह समुद्रतल से ७४६४ फ़ीट ऊँची है । इस पर्वत से कुछ उत्तर को हटा हुआ प्रायः दो मील पर “जबर खेत” है । यहाँ पर कई एक बंगले भी हैं, परन्तु यह स्थान वास्तव में मसूरी से बाहर समझा जाता है । लैंडोर पहाड़ इस जगह का कैन्टोनमेंट है । यहाँ पर नीचे से समय समय पट गोरां की फ़ौजें आकर गर्मियों में रह जाया करती हैं । जाड़ों में भी इसमें कुछ फ़ौजी अफसर बने रहते हैं । शेष सब हर साल आकूबर में नीचे उत्तर जाते हैं । इस पहाड़ पर अन्य भले-

मानसों के भी ७८ घर हैं और उनमें २३० से अधिक अँगरेज़ लोग रहते हैं। इसकी हद भर में फौजी कानून प्रचलित है। लैंडोर ही में दक्षिण की ओर नीचे बहुत बढ़िया पानी का झरना है। इसे “कम्पनी खढ़” कहते हैं और इसका जल मसूरी भर में सबसे उत्तम समझा जाता है। इस पहाड़ पर खर्च के लिये इसीसे पानी जाता है। यहाँ अब तक पानी के पम्प और बिजुली की रोशनी दोनों ही नहीं हैं।

इस पर्वत का एक रीढ़ दक्षिण-पूर्व की ओर ‘हिमालय कुब’ पहाड़ी से मिलती है। इसी रीढ़ के दोनों ओर ‘लैंडोर बाज़ार’ बसा हुआ है। इसमें भाँति भाँति के सौदों की प्रायः ३०० दुकानें हैं। दैनिक आवश्यकता की सब चीज़ें इस बाज़ार में मिलती हैं और यह भारतवर्ष के परिपूर्ण बाज़ारों में से एक माना जाता है। इस बाज़ार से मिली हुई दक्षिण की ओर एक छोटी सी “कासेल पहाड़ी” है। इसमें कुछ समय पहले पञ्चाब के राजा दिलीपसिंह को गवर्नरमेंट ने रक्खा था। इन दिनों में इसके कई एक मकानों में हिन्दुस्तान के मुहकमा नाप या “सर्वे आफ़ इंडिया” का दफ़्तर है।

२—“हिमालय कुब पहाड़ी !” हिमालय कुब नामक संस्था सन् १८४१ में स्थापित हुई थी। इसके सभी सदस्य अँगरेज़ हैं। इस पहाड़ी पर इस समिति का लम्बा-चौड़ा मकान बना हुआ है, इसलिये इस पर्वत का यही नाम पड़ा। उपर्युक्त मकान में इस कुब के मेम्बरों के रहने के लिये विशेष सुभीता रक्खा

गया है । हिमालय छब के सभीप ही स्थानीय म्यूनीसिपैलिटी का दफ्तर और टाउनहाल हैं । इस पर बहुत सी कोठियाँ हैं । बड़े बड़े ४-६ होटलों के सिवा यहाँ पर बहुत से छोटे छोटे होटल हैं । इन्हें “बोर्डिङ हाउस” कहते हैं । इनका प्रबन्ध अच्छा है और इनमें ठहरनेवालों को पूरा आराम मिलता है । इनमें बड़े होटलों की अपेक्षा खर्च कम पड़ता है, इसलिये गर्भियों में ये खूब भरे रहते हैं । इस छब के कई एक बोर्डिङ हाउस इस हिमालय छब पहाड़ी पर हैं ।

३—“कुलड़ी पहाड़ ।” ऊपर लिखी हुई पहाड़ी से प्रायः मिला हुआ, दक्षिण की ओर, यह पहाड़ है । कुलड़ी पर्वत यहाँ की सड़कों की सतह से बहुत ऊँचा नहीं है; परन्तु विस्तार में कुछ ज्यादा है । इस पहाड़ पर बहुत ज्यादा धनी बसती है । यह यहाँ के अँगरेज़ी कारोबार का केन्द्र समझा जाता है । इसके ऊपर “कनाट कासेल”, “जेफर बाल” आदि तीन-चार अच्छे बोर्डिङ हाउस हैं, कई एक बैरिस्टर और बकील रहते हैं, और कुछ किराये की भी कोठियाँ हैं ।

इस पर्वत के पूर्वीवाले किनारे पर अँगरेज़ी दूकानों का लंबा-बैड़ा बाजार है, जिसे “कुलड़ी बाजार” कहते हैं । यहाँ सड़क के दोनों ओर बहुत बड़ी बड़ी सुन्दर दूकानें हैं, जिनमें लाखों रुपयों का अँगरेज़ी माल भरा हुआ है । ये सब मिला कर छोटी-बड़ी दस बारह दूकानें होंगी । इस बाजार में दिली-लखड़न और अपर-इण्डिया बैंक के दफ़्तर भी हैं । इसी पहाड़ पर

दक्षिण की ओर अलायंस-बैंक आफु शिमला का कार्यालय है। कुलड़ी बाजार को देख कर लखनऊ के एक छोटे-मोटे “हज़रत गंज” की याद आ जाती है।

४—“कैमेलस बैंक पहाड़ !” कुलड़ी पर्वत से मिला हुआ ठीक पश्चिम की ओर यह ऊँचा पहाड़ है। इसे “तोप दग्गने-वाला पहाड़” भी कहते हैं, कारण कि इस पर पहाड़ की फ़स्ल भर, १८५१ से लगा कर ३१ अक्टोबर तक, दिन में १२ बजे तोप दागी जाती है। इसकी ऊँचाई ७०२२ फ़ीट है। इसकी खाड़ी पर पानी का एक बड़ा तालाब बना हुआ है। पहिले नीचे से ऊपर को उठ कर पर्यां के द्वारा पानी इसमें आता है और फिर मसूरी के एक अंश-विशेष में नीचे जा कर बटता है। इसी तरह के दो और बड़े तालाब “विंसेंट पहाड़” पर भी हैं। ये ही तीनों तालाब मसूरी भर में पानी पहुँचाते हैं। “कैमेलस बैंक” पहाड़ के उत्तर की ओर ज़रा नीचे अभी कुछ कम आबादी है, परन्तु दक्षिण की ओर, उसकी अपेक्षा, अधिक घनी बस्ती है। इसी में यहाँ का थाना और कचहरी भी हैं। कई एक ज़नाने और मर्दाने अस्पताल और किराये की कोठियाँ इस पहाड़ की पहिलमधाली खाड़ी खाड़ी तक फैली हुई हैं।

५—“किताब घर !” यह यहाँ का हरा-भरा अँगरेज़ी पुस्तकालय है। सन् १८४३ में यह स्थापित हुआ था और अब भी बड़ी अच्छी दशा में है। अँगरेज़ और योहे-बहुत हिन्दुस्तानी लोग इस के सदस्य हैं। १८५१ अक्टोबर तक इसी

“लाइब्रेरी” के सामने प्रत्येक सप्ताह में तीन बार बैंड बजाता है। यहाँ की “बैंडसमिति” इसी प्रयोजन से हर साल नीचे बड़े शहरों की फौजों के किसी बढ़िया बैंड को बुलाती है और बिदा करते समय उसे अच्छा पुरस्कार देती है। इन लोगों के रहने और खाने-पीने का प्रबन्ध उक्त बैंड-कमेटी के हाथों में है। इस काम के लिये कुछ हपया म्यूनीसिपैलिटी से मिलता और कुछ साधारणतया चन्दे से इकट्ठा किया जाता है। यह निमन्त्रित बैंड बाजा यहाँ के नाच-तमाशों और मेलों में पूरी सहायता देता रहता है। किंताब घर की दूसरी मंजिल पर सवाय होटल की “चाय-पानी” की दूकान है, और इसकी बायी और पास ही शालेंबील होटल की इसी ढङ्ग की “क्राइटी-रियन” नामक दुमंजिली दूकान है। बैंड बजाते समय इन दोनों में अंगरेजों की बड़ी भीड़ होती है। किंताब घर के सामने, पानी बरसते समय बैंड के बजाने के लिये, एक छोटा सा टीन का घर बना हुआ है।

सङ्क की बायीं और “क्राइटीरियन” की सीध में पूर्व को अनियों की छोटी छोटी दूकानें हैं और उनसे मिली हुई दो बढ़िया अंगरेजी दूकानें भी हैं। इसी छोटे से दूकान-समूह का नाम “लाइब्रेरी बाजार” या “किंताब घर का बाजार” है। किंताब घर के पीछे ही ठीक पदिच्चम में ऊचे पर सवाय होटल की लम्बी-बौद्धी और बढ़िया, इमारतें हैं। इसके मालिक लखनऊ के नामी वैरिस्टर श्रीयुत लिंकन साहब

हैं। शालेंवील होटल के बाद मसूरी में फिर इसी का नम्बर है।

सबाय होटल से पीछे समीप ही कुछ ऊँचे पर महाराजा कपूरथला का ग्रीष्म-निवास है। यह बहुत सुन्दर बना हुआ है। चारों कोनों के चार गुबद, लाल रंग से पुते हुए, दूर से देखने में बड़े अच्छे मालूम होते हैं। इस महल के सामने टेनिस खेलने के लिये एक छोटा-मोटा मैदान निकाल लिया गया है। यह सुन्दर भवन एक रमणीय वाटिका से धिरा हुआ है, तथा इसके चारों ओर कई एक ग्रौट बंगले और मकान हैं। उनमें से कोई महाराजा साहब के राजकुमारों तथा रियासत के बड़े अफसरों के लिये और अन्य सामान्य नौकरों के लिये हैं। यह कपूरथला-भवन भीतर से बहुत अच्छा सजा हुआ है।

६—“कान्वेट पहाड़।” कपूरथला महलबाले पहाड़ से जुड़ा हुआ उत्तर की ओर “कान्वेट पहाड़” है। इसकी ऊँचाई ६९.८५ फीट है। इसकी ओरी पर “कान्वेट आफ जीसस ऐंड मेरी” नामक लड्कियाँ के स्कूल की इमारत बनी हुई है। दूर से देखने पर यह बड़ी सुन्दर दिखायी पड़ती है। इस पर्वत के पूर्व ओर पश्चिम की ओर कई एक किराये के मकान हैं।

इस पर्वत के समीप दक्षिण-पश्चिम में “ब्लूचर पहाड़ी” है। यह बाल्टव में “विंसेट पहाड़” का उत्तरीय अंश माना जाता है। इस पर भी कई एक किराये की कोठियाँ हैं। ब्लूचर पहाड़ से मिला हुआ ठीक दक्षिण में “विंसेट पहाड़” है।

७—“विंसेट पहाड़ ।” यह भीमकाय पर्वत उत्तर से दक्षिण को दूर तक फैला हुआ है । यह ७००६ फ़ीट ऊँचा है । इस पर कई एक कोठियाँ हैं । इनमें से कुछ किराये पर भी उठती हैं । इसकी सब से ऊँची ओटी पर एक बड़ी कोठी है, उसमें मेरठ के कमिश्नर रहते हैं । इसके पूर्व में तथा पश्चिम ओर दक्षिण के किनारे पर कई एक बँगले हैं । पश्चिम की ओर “डम्बानी” नामक एक अंगरेजी अनाथालय है ।

इसी पहाड़ पर मुख्य ओटी से कुछ दक्षिण को हट कर “बेलव्य” नामक एक पीले रंग का भवन है । इसे अंगरेज सरकार ने अफ़ग़ानिस्तान के राज्यद्युत अमीर को गर्मियाँ में रहने के लिये दिया है । इसका भी हृष्य बड़ा मनोहर है ।

८—“अबी पहाड़ी ।” यह विंसेट पहाड़ से ठीक पश्चिम में है । इसकी ऊँचाई ७०२२ फ़ीट है । इस पर सब मिला कर कुल छः किराये के बँगले हैं । इन्हीं में से “ग्रांट कासेल” नामक कोठी में देहरादून के कलेक्टर साहब रहा करते हैं । यह वास्तव में मसूरी की बस्ती की दक्षिण-पश्चिम की सीमा पर है । “अबी पहाड़ी” से कुछ दक्षिण सबा भील पर “स्नो-डन” नामक बँगला है और यहाँ से ग्रायः ढार्ड भील पश्चिम कुछ और भी कोठियाँ हैं, परन्तु ये सब मसूरी से बाहर समझी जाती हैं । इस पर्वत से कुछ पूर्व, “विंसेट पहाड़” के नीचे उत्तर की ओर, यहाँ का कम्पनी बाग्र है । यह ओटी सी अच्छी

वाटिका है। इसमें देवदाह के बृक्षों की अधिकता है और बिक्री के लिये पैधे तैयार रखे जाते हैं। मसूरी आकर इसे भी देखना चाहिए।

९—“हैपी वैली !” यह रमणीय “प्रमोद-उपत्यका” “विंसेंट पहाड़” से ठीक उत्तर में प्रायः पैन मील पर और “कान्वेंट पहाड़” के पश्चिमोत्तर कोण में समीप ही है। यह उत्तर में “शालेंवील होटल के पहाड़” से, दक्षिण में “डीनरी पहाड़ी” से और पश्चिम में थोड़ा बहुत “हर्ने पहाड़ी” से छिपी हुई है। इसके बीच में पश्चिम की ओर “हैपी वैली कुब” का छोटा सा मकान बना हुआ है। यह कुब सन् १९०४ में व्यापित हुआ था। इसके भी मेस्वर प्रायः अँगरेज ही लोग हैं। यहाँ पर टेनिस के १४—१५ जाल लगाने को काफ़ी मैदान निकाल लिया गया है और गर्मियों में प्रायः ये सब खेलनेवालों से भरे रहते हैं। यह कुब अन्य अँगरेजी खेलों के लिये भी सामान रखता है और इसमें कुछ समाचारपत्र पढ़ने के लिये रखे रहते हैं।

शालेंवील होटल की बहुत छड़ी इमारत इस उपत्यका से उत्तर की ओर ऊचे पर बनी हुई है। यह होटल बहुत छड़ा है और मसूरी में इसका नम्बर सब से ऊपर समझा जाता है। इसमें रहने का खर्च भी ज्यादा है, परन्तु इसका प्रबन्ध बहुत अच्छा है। “हैपी वैली” में कई एक बोर्डिंग हाउस फैले हुए हैं। उनमें से “डीनरी”, “मालाकाफ़” आदि मुख्य हैं।

हर्ने पहाड़ी पर इसी नाम का भर्जिंद के महाराजा का भवन है । और यह मस्ती की पश्चिमोत्तर सीमा पर है । इसके बाद फिर कुछ भी आबादी नहीं है । यहाँ से आगे चल कर कोई डेढ़ मील पर घुड़दौड़ का मैदान पड़ता है । इसमें मई और जून के महीनों में कुछ दिनों तक घुड़दौड़ होती है । और इस खेल के शौकीन लोगों की अच्छी भीड़ रहती है । उक्त उपत्यका में किराये की भी बहुत सी कोटियाँ हैं ।

दो होटलों का नामालेख ऊपर हो चुका है । उनके सिवा शिमला रोड पर “अलेक्झैंड्रा होटल”, कचहरी के नीचे “ग्रांड सेन्ट्रल होटल” आदि ४—५ और भी होटल हैं । अंगरेज़ों ने यहाँ पर अपने बच्चों को पढ़ाने के लिये बहुत अच्छा प्रबन्ध किया है । यह सुन कर आश्चर्य होगा कि इस छोटे से स्थान में अंगरेज़ लड़कों और लड़कियों के लिये सब मिला कर दो, कालेज और कोई दस-ग्यारह स्कूल हैं । यहाँ पर आमाद-प्रमोद के लिये भी सब प्रकार से पूरा प्रबन्ध रहता है । कदाचित् ही कोई ससाह ऐसा हो जिसमें कहीं न कहीं पर किसी भाँति का नाच-तमाशा, गाना-बजाना, या खेल-कूद न हो । यहाँ पर प्रायः सभी लोग अपनी चिन्ताओं को दूर भगा कर सब समय उत्सव और आनन्द में बिताते हैं । तमाहों का केन्द्र मुख्यतया “रिक्कूघर” रहता है । यह थियेटर कुलड़ी पहाड़ के उत्तर-पश्चिम के किनारे पर बना हुआ है । इसमें जायस्कोप का तमाशा, नाच और सङ्गोत, तथा पहियेदार

खड़ाऊँ पहिन कर नाचना या स्केटिंग बहुधा वैसे ही होता रहता है। कभी कभी नीचे से एक-आध अँगरेज़ी थियेट्रिकल कम्पनी यहाँ आकर खेल जाती है। दोनों बड़े हाटलों में भी अँगरेज़ी नाच या “बाल्स” बहुतायत से होते रहते हैं। समय समय पर कुछ अँगरेज लियाँ और पुरुष अपने आपस में किसी नामी नाटक को टट कर उसे सर्वसाधारण को दिखाने के लिये रिहूघर में खेलते हैं। “मसूरी टाइम्स” इस खान का प्रतिष्ठित समाचारपत्र है। यह साप्ताहिक है और इसमें अन्य बातों के सिवा उस सप्ताह में मसूरी में होनेवाली समस्त घटनाओं का उल्लेख रहता है।

यहाँ के हिन्दुस्तानी सज्जन अपने भाइयों के सुख के लिये निरपेक्ष नहीं हैं। खानीय आर्यसमाज ने लैंडोर पहाड़ के दक्षिण की ओर नीचे एक बड़े और अच्छे बँगले में धर्मशाला खोल रखी है। इन लोगों ने जगह की कभी का अनुभव करके इसमें अड्डास-पड्डास के कुछ और भी मकान संयुक्त करने का प्रबन्ध किया है। आर्यसमाज धर्मशाला से कुछ ऊपर की जगह “सिखधर्मशाला” है। यह एक अच्छा सा बँगला है। कुछ और ऊचे लैंडोर बाजार के पश्चिमोत्तर कोण पर “रिव-मन्डिर” है। यह भी एक छोटी-मोटी धर्मशाला है, परन्तु अब तक इसकी सफाई पर यथोचित ध्यान नहीं दिया जाता है। इन तीनों धर्मशालाओं में हिन्दू मात्र तीन-चार दिन तक आनन्द के साथ उहर सकते हैं। इससे अधिक दिनों तक उहरने

के लिये प्रत्येक स्थान के मैनेजर से आशा लेनी पड़ती है। दिव-मन्दिर के पड़ोस ही कुछ समय से एक छोटे से मकान में “इंडियन रीडिंग क्लब” खोला गया है; इसमें कई एक अंगरेज़ी शैर हिन्दी के समाचारपत्र आते हैं।

पहाड़ी झलवायु इतना अच्छा है कि नीचे से आते ही यहाँ पर मनुष्य की भूख ज्यादा होने लगती है। धीरे धीरे उसके शरीर में एक शक्तिविशेष का सा संचार होते जान पड़ता है। उसका मन प्रफुल्लित होने शैर हृदय-कमल प्रस्फुटित होने लगता है। इन सब बातों के साथ ही कुछ न कुछ शारीरिक परिश्रम करना बहुत बँसरी है, वैसे यहाँ आकर बैठे बैठे बिना कुछ देखे-भाले एक नये रमणीय नगर में आना केवल निष्ठ-योजन ही नहाँ होता है, बरन मनुष्य के ज्यादातर स्वर्ण होने के स्थान में उसके झल्दी ही रोगी हो जाने का खटका रहता है। यही कारण है कि जिन लोगों का चलने का अभ्यास बहुत कम है वे पहाड़ से उतर कर इसकी निन्दा करते सुने गये हैं। पर्वतों पर आकर पूरा पूरा लाभ पाने के लिये चार मील से आठ या दस मील तक सबेरे शैर शाम को टहलना सर्वथा उचित है, क्योंकि तभी पहाड़ पर आने का पूरा आनन्द मिलता है शैर तभी यहाँ की अलौकिक शोभा को देख कर नेत्रों के बन्द करने की इच्छा नहीं होती है।

सैर करने के लिये यहाँ कई एक बहुत अच्छी सड़कें हैं। किंतु अधर से सामने पूर्व को कैसेलसबैक पहाड़ के नीचे-

दक्षिण की ओर कुलड़ी बाजार से होती हुई, तथा फिर आगे बढ़ कर हिमालय कुब पहाड़ी के पश्चिम की ओर जो सङ्क लैंडोर बाजार तक जाती है वह यहाँ की "माल" या ठंडी सड़क है। कुलड़ी बाजार से कुछ पश्चिम को हट कर इस पर से दक्षिण की ओर नीचे देहरादून की ऊसी छोटे छोटे विन्दुओं के समूह के समान विकायी देती है। उससे भी दूर हरिद्वार के पर्वतों का और पूर्व से पश्चिम को लम्बी शिवालिक पर्वत-श्रेणी की कुछ पहाड़ियों का, और अब दिन खूब साफ़ होता और चुन्न्य नहीं होती है, तब श्रीगंगाजी और श्रीयमुनाजी की धाराओं का, सुन्दर दृश्य बड़ा मनोहर जान पड़ता है। किंतु घर से कुछ ही आगे बायों ओर को इसी "माल" से "कैमेलस बैक" सङ्क फूट जाती है और यह "कैमेलस बैक" पहाड़ के उत्तर की ओर नीचे नीचे खूब टेढ़ी-बेढ़ी धूमती-धामती कुलड़ी बाजार के उत्तरी सिरे पर फिर उसी ठंडी सङ्क से मिल जाती है। इस पर दो विशेष स्थानों से, यहाँ से प्रायः ६०—७० मील दूर, हिमालय पहाड़ की ऊसुत ऊंची स्फटिक मणि के समान सफेद चारियाँ साफ़ तैर से देख पड़ती हैं। ये अपनी अनुपम सुन्दरता के कारण हृदय को हर लेती हैं। यह इच्छा होती है कि इन्हीं की ओर देखता रहे। कभी कभी ये बादलों से भी ढकी रहती हैं, परन्तु अब ये मेघों से रहित होती हैं, तब इनकी शोभा और प्रभा वास्तव में धर्मन से बाहर होती है। इस "कैमेलस बैक" सङ्क से और मी बड़े ही

प्यारे प्यारे बन्ध तथा पहाड़ी हृश्य निरन्तर दिखायी देते हैं । किताब-घर से पश्चिम की ओर दाहिने और बायें दो सड़कें गयी हैं । इनमें से “शिमला सड़क” कान्वेंट पहाड़ के उत्तर की ओर नीचे कुछ दूर जाकर फिर सीधी शिमला को चली जाती है, जो यहाँ से इस रास्ते से १४४ मील की दूरी पर है । इसी से मिली हुई “रेकूरी सड़क” शालेंवाल होटल के फाटक ओर हैपी वैली के पूर्ववाले ऊपरी सिरे तक दौड़ती है । यहाँ से एक रास्ता कान्वेंट पहाड़ के पश्चिम की ओर कम्मनी बाग को जाता है और दूसरा नीचे हैपी वैली को । शिमला सड़क पर से भी एक स्थान से बफ्फवाली चाटियों का मनोरम हृश्य दिखायी पड़ता है । दूसरा रास्ता किताब घर से बायें ओर सवाय होटल और कपूरथला महल को कुछ ऊंचे पर उत्तर की ओर छोड़ता हुआ विन्सेंट पहाड़ को चला जाता है । इस रास्ते पर बहुत ऊंचे पहुँच कर सामने पूर्व की ओर मसूरी की बस्ती पूरे तौर से देख पड़ती है और बड़ी सुहावनी मालूम होती है । एक रास्ता विन्सेंट पहाड़ी के चारों ओर गया है । इस पर से दूर दक्षिण में शिवालिक पर्वत-ध्रेणी, अहारनपुर और लड़की के मैदान और देहरादून के उत्तम हृश्य दिखायी देते हैं । इसके सिवा लैंडोर, कैमेल्स बैक और कान्वेंट पहाड़ पर कई एक अच्छे रास्ते हैं, जिन पर कुछ सावधानता के साथ चारों ओर देखने से बड़े अद्वितीय हृश्य सामने आते हैं ।

मसूरी से ८—१० मील के भीतर कई एक ऐसे बहुत उत्तम स्थान हैं जहाँ को मनुष्य सवेरे जाकर सायंकाल में फिर अपने घर पर वापस आ सकता है। यदि प्राकृतिक सौन्दर्य देखना हो, यदि ऊँचे ऊँचे पहाड़ों पर बैठे हुए अपने निराले ठाटबाट में बनवेही के दर्शन करके अपने भाग्य को सफल करना हो, तो यदि इतने ऊँचे पर बहुत ही हर-भरे घैर फलते-फूलते हुए भगवान् के लम्बे-चौड़े बाग को निरस कर अपने नेत्रों को असीम आनन्द देना हो, तो मसूरी आगे पर कुछ कष्ट उठाने के बाद बाहर जाकर प्राकृतिक हृशी को ज़खर देखना चाहिए। नीचे लिखे हुए कुछ ऐसे स्थान हैं जो अपनी अकथनीय शोभा और प्राकृतिक सुन्दरता से थोड़ी दूर के लिये मनुष्य को यह बिलकुल भुला देते हैं कि वह भी एक सांसारिक जीव है। इन स्थानों में जाकर मनुष्य अपने हृदय को—यदि चास्तव में उसके हृदय हो—पारलोकिक और अनर्थ-चनीय आनन्द के रस को पान करते हुए देख कर, स्वयंसेव प्रसन्नता के कारण, उमड़ते हुए प्रमोदसागर में निमग्न हो जाता है। ऐसे समयों पर साथ में एक दूरदृश्यक यन्त्र या “बिनाकुलर” अधिश्य लेते जाना चाहिए। देखने के योग्य मुख्य मुख्य स्थान नीचे दिये हुए हैं।

१—टापटिका। यह चौटी मसूरी से पूर्व में, ग्राम ८ मील दूर, ८५६९ फीट की ऊँचाई पर है। यहाँ से उत्तर की ओर बड़ीनाथ, केदारनाथ, नन्दावेही इत्यादि, बर्डू से सदा ढकी

हुई, ऊँची खाटियाँ साफ़ साफ़ देख पड़ती हैं। इस स्थान से चारों ओर प्रायः १०० मील तक के हृश्य हृष्टि के नीचे आ जाते हैं।

२—भद्राज पहाड़ । यह मसूरी से पश्चिम की ओर ८ मील से कुछ ज्यादा दूर है। इसका मार्ग कुछ कठिन है। इसके ऊपर पश्चिमधाली खाटी पर एक छोटा सा मन्दिर है। उसमें दो बौद्धकालीन मूर्तियाँ हैं। एक कुछ दूरी-फूरी ओर दूसरी ठीक है। इस खाटी पर से चक्रौते के पहाड़ों का, नीचे मीठे मीठे गीत गाती हुई अत्यन्त टेही-मेही बहती हुई दुबली-पतली श्रीयमुनाजी का और पास ही पूर्वधाली खाटी के सामने मसूरी की बस्ती का हृश्य बहुत ही हृदय-ग्राही है।

३—आगार उपस्थिका । यह ३—४ मील की दूरी पर कैमेलस घैक सड़क के नीचे है। इस सड़क पर सैर करते हुए इस रमणीय उपस्थिका का हृश्य सब सभय नेत्रों के सामने रहता है। इसमें नीचे उतार कर ऊपर बहुत ही ऊँचे भीमकाय पहाड़ों को देखने से ईश्वर की ईश्वरता का पता लगता है। यहाँ पर दो गाँव जिन्सी और दुनैटी हैं। इनमें पहाड़ियों के छेड़ देहाती दैतिक जीवन को देख कर बढ़ा कौतूहल होता है।

४—केण्टो फ़ालस । यह विशाल घैर अत्यन्त सुन्दर जल-प्रपात मसूरी से ४—५ मील है। इस जगह को शिमला-धाली सड़क से जाना होता है। सड़क के ऊपर से भी इस

प्रपात का मनोहर हृष्य दिखलायी देता है, परन्तु पूरा पूरा आनन्द पाने के लिये नीचे एक या सवा मील चल कर जल-प्रपात तक आना चाहिए । मसूरी से इतना समीप कोई भी दूसरा इतना बड़ा और मनोहर जल-प्रपात नहीं है । यहाँ ६०० फीट की ऊँचाई से यथाक्रम पाँच जगहों में उहरता और गिरता हुआ अत्यन्त विशालकाय और बड़े गम्भीर शब्दधारा जलग्रवाह देखने में आता है ।

५—बनोग पहाड़ । यह भी मसूरी से पश्चिम ७ मील है और भद्राज जाते समय रास्ते में दाहिनी ओर छूट जाता है । इसकी ऊँचाई ७४०० फीट है । इस पर एक पुरानी धैधशाला सरकारी मुहकमा नाप का एक पुराना थान है । इसके ऊपर से भी दूर दूर के हृष्य और श्रीयमुनाजी की उपत्यका बड़ी सुन्दर मालूम होती है ।

६—भद्राजलप्रपात । मसूरी से दक्षिण-पूर्व कोण में भद्रा एक पहाड़ी गाँव है । उसी के नीचे कुछ दूर पर ये प्रपात हैं । इनमें कोई कोई स्थान वास्तव में बड़े मनोरम हैं । इन्हीं प्रपातों से मसूरी में दोशनी के लिये विजुली की शक्ति का संग्रह किया गया है ।

७—मासी फालस । ये और “हर्सी फालस” नामक जल-प्रपात बालोंगंज के पास हैं । इनसे समीप ही आर्नीगढ़ में “न्यू बोटेनिकल गार्डन्स” या एक नया सरकारी बाग है जो सर्वथा देखने के योग्य है ।

उपर्युक्त स्थानों के सिवा यदि अवकाश हो, तो मसूरी से चक्रैता और टेहरी (गढ़वाल) तक भी ज़रूर यात्रा करनी चाहिए । ये दोनों स्थान यहाँ से प्रायः ३८—३९ मील हैं । इनके रास्तों पर बहुत सुन्दर सुन्दर पहाड़ी हृष्य देखने में आते हैं और पर्वत-सम्बन्धी अनेक नयी बातें मालूम होती हैं ।

यदि पर्वतों के ऊपर भी आकर मनुष्य अपनी वे ही डेढ़ सांसारिक बातें धसीटना चाहे, तो समझिए कि उसके लिये पर्वत की यात्रा या यहाँ का निवास व्यर्थ है । जो पर्वतों की विशद महस्ता को समझ कर स्वयं अपनी आत्मा के गौरव को जान सकता हो, जो सुदूरवर्तीनी छोटी छोटी विकराल शब्द करती हुई बहुत ज्यादा टेही-मेही पहाड़ी नदियों के शक्तिपूर्ण वेग को देख कर यह अनुभव कर ले कि निरन्तर प्रबल उद्योग करते रहने से ये तुच्छ और थोड़े जलवाली नदियाँ भी आगे बढ़ कर देश में कितना बड़ा आश्चर्यजनक रूप धारण कर लेती हैं, जो कठोर चहानों से घिरी हुई प्रायः पत्थर के समान भूमि पर पहाड़ी बृक्षों की असीम हड्डना और उनके हरे-भरेपन को देख कर यह स्पष्ट परिणाम निकाल सके कि कठिन से भी कठिन स्थान और समय में मनुष्य अपनी पूरी हड्डता को खिर रखने से सब समय हरा-भरा रहना है, और जो चिन्ताओं से एकदम मुक्त, इधर से उधर फुकती हुई और अपने मीठे सुरीले रागों से सबम बनों को परिपूर्ण करके परम सुन्दर बनवेषी की सेधा करती हुईं, यहाँ की सब भाँति की छोटी-

बड़ी प्यारी प्यारी चिड़ियों को देख कर इस बात को ध्यान में ला सके कि जब ये निर्बुद्धि छोटे छोटे जीव अपने जीवन का इस परम आनन्दमयी नियमित स्वच्छन्दता में काट सकते हैं, तब क्या बुद्धि का आगार और साक्षात् परमात्मा का स्वरूप अपना जीवात्मा इन सांसारिक भंभटों की देखने ही में बड़ी पुष्ट बेड़ियों को तोड़-मरोड़ कर थोड़े समय के लिये भी इस पहाड़ी विभव को देख कर थोर इस पार्थिव शरीर से भानों बाहर निकल कर चारों ओर भरे हुए थोर लहराते हुए अनिश्चयन्द के सागर में गोते नहीं रुग्न सकता है, उसके लिये पहाड़ पर आकर केवल सौ नहीं, हजार नहीं, बरन लाखों ऐसी ऐसी विकासाएँ थोर ऊँचे दर्जे के सौन्दर्य की मालाएँ लटकी हुई हैं जिन्हें नेत्र साधारणतया देखने को कदापि समर्थ नहीं हैं ।

कुत्रिम सौन्दर्य थोर प्राकृतिक सौन्दर्य का पूरा पूरा बालर पर्वतों पर अधिकता के साथ मालूम होता है । यहाँ पर बरसान के बाद रङ्ग-विरङ्गे असंख्य फूलों की श्रेणियों को देख कर अपने देश की बड़ी बड़ी फुलवारियाँ भी फीकी जान पड़ती हैं । अगलित वृक्षों, प्यारी घनलताओं और उनसे बने हुए प्राकृतिक कुम्भों को निरक्ष कर थहाँ बड़ी मेहनत के बाद जनाये हुए अच्छे अच्छे उपवन भी हृषि से उत्तर जाते हैं । उचित भी ऐसा ही है, क्योंकि इधर तो स्वयं परमात्मा ही की रुग्नाची हुई चाटिका है थोर उथर मनुष्य की छोटी-मोटी बुद्धि से उत्पन्न उद्यान ।

जिस समय बरसात के दिनों में आकाश का भाप या “मिस्ट” यहाँ के समत्त वायुमण्डल को पूरे तौर से अपने उदर में रख लेता है, तब चित्त में बड़े गम्भीर विचार उठने लगते हैं। किसी और भी देखिए पर्वत, वृक्ष, मकान, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि कुछ भी नहीं हाषिगोचर होता है। जहाँ पर मनुष्य स्वयं खड़ा होता है उतना मात्र स्थान कुछ साफ़ मालूम होता है। उस समय यह जान पड़ता है कि मानों “प्रलयपर्याधि” ने बड़े धेंग के साथ उमड़ कर “सभी संसार” को कबलित कर लिया है, अथवा मानों उसके राज्य—इतनी अधिक ऊँचाई पर वायुमण्डल—में आकर हम लोगों के अधिकार जमा लेने वैर वास करने के कारण मेघमण्डल हम लोगों को इस ढंग से भयभीत करने का उद्योग कर रहा है, यही नहीं यदि किसी समय मकान की खिड़कियाँ खुली देखीं, तो अन्दर घुसकर वैर कभी बरस कर वह मेघदल चीज़ों को भिगोदेने से नहीं चूकता है, अथवा यों समझिए कि उधर मेघ लोगों को ऊँचे पहाड़ पर आकर बरसने की आज्ञा मिली, इधर बरसना दूर रहा, पहाड़ी सर्दी के कारण वे वैर भी सिकुड़ने लगे। जब बाहर ठण्ठी ठण्ठी वायु को कारण उनसे कष्ट न सहा गया, तब जहाँ कहाँ कोटियों वैर मकानों में खुले रास्ते पाये वहाँ पर अपने को दीत से बचाने के लिये उन्होंने भट्ट से प्रवेश करना प्रारम्भ किया।

बफ़ू के गिरने का भी हृदय बड़ा मनोहर होता है। असी तक नवेम्बर के महीने में इस पहाड़ पर कभी बफ़ू नहीं गिरी थी।

इस साल उक्त महीने की ११वीं तारीख को बफ़ का एक छोटा-मेटा गिराव हुआ । कोई एक सप्ताह से अधिक पहिले से आकाश प्रायः मेघों से ढका रहता था । कभी कभी पानी भी गिर जाया करता था । इस प्रकार से भूमि और वायुमण्डल दोनों ही भली भाँति ठण्डे हो गये । उपर्युक्त तारीख को ११ बजे दिन से फिर जोर-दोर से पानी गिरने लगा । कुछ समय के बाद वेग के साथ ओले या “बजरी” गिरी । प्रायः ४ बजे एकदम पानी और बजरी रुक गयी और आकाश से फेन की छोटी छोटी असंख्य बूँदें गिरने लगीं । ये हल्की थीं और इनमें जम जाने की शक्ति भी बहुत कम थी । फिर जोर के साथ पानी गिरा और तुरन्त ही, उसके यकायक रुकते ही, ये फेन की बूँदें पहिले के समान बड़ी प्रखुरता के साथ गिरीं । इसी प्रकार से चार या छः बार हुआ और बाद को कुछ बड़े फेन-बिन्दु भी गिरे, परन्तु ये अपने समय से बहुत पहिले आगये थे, इसलिये इनमें रुकने की कम शक्ति थी और ये प्रायः सभी क्षणिक थे । बफ़ गिरते समय यह सुन्दर हृष्ट ऐसा बढ़िया जान पख़ता था कि मानों ऊपर से कोई घमेली के लाखों फूल बरसा रहा है ।

११—सदाचार-नीति और नवीन दार्शनिक दृष्टि । ४



मारा भारतवर्ष बहुत पुराने समय से ही विद्या की प्रायः समस्त शास्त्राओं एवं प्रशास्त्राओं का और दर्शन एवं विज्ञान की जटिल से भी जटिल समस्याओं का आगाध समुद्र है। वर्तमान समय के बहुत से दार्शनिक विचार और वैज्ञानिक आविष्कार, जिनको एक नये रूप में विखला कर आजकल कुछ विद्वान् लोग कभी कभी चाहबाही लूटते हैं, हमारे पुराने शास्त्रों में, शिला-लेखों में, तथा भोज-पटों पर और ताम्रखण्डों पर लिखी हुई लिपियों में अधिकता के साथ पाये जाते हैं। इस बात से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वजों की विद्या-सम्बन्धी प्रतिभा और मानसिक शक्ति बहुत ऊँचे दर्जे को पहुँच गयी थी। इस दशा में मानव-धर्म-शास्त्र के समान मायि का, विदुरनीति के तुल्य हीरे का,

६ दिसम्बर १९१२। अमुद्रित। डाक्टर भूरहेड की “एथिक्स” के विवारों के आधार पर।

चाणक्यनीति के सहश्र मोती का तथा इसी प्रकार से और भी अनेक नीति-सम्बन्धी रत्नों का अपने माहित्य में पाना हमारे लिये स्याभाविक मात्र है । इन पुस्तकों की पढ़ने से इनके अनुभवशील रचयिताओं की विलक्षण बुद्धि, गम्भीर पर्यन्तेक्षण और नैतिक चातुर्य का पूरा पता लगता है । प्रायः कोई भी ऐसा अवसर मनुष्य के जीवन में न होगा, कोई भी ऐसा चरित्र-विशेष न होगा और कोई भी ऐसा सांसारिक वैचित्र्य न होगा, जिसके लिये अपने यहाँ के उत्तम नैतिक ग्रन्थों में साफलता के देनेवाले, दुःख के घटानेवाले और सुख के बढ़ानेवाले निश्चित उपाय न बतलाये गये हों । जब हमारा नीति-शास्त्र इनना सारगर्भिन् और प्रबल है, तब हमारे लिये इसी विषय पर अत्यन्त अर्दाचीन पाइचाय विचारों का जानना, उनका भलीभांति समझना और उनका कार्य-परिणत करना सहज ही में हमारे सदाचार-नैतिक ज्ञान को विस्तृत करेगा तथा हमारी व्यक्ति-गत और सामाजिक समृद्धि का संवर्धक होगा, कारण कि प्रायः ये विचार हमें नये सिरे से थोड़े ही सीखने हैं; समझी-बूझी बातों के नये रूपों का बोध प्राप्त करना कुछ भी कठिन काम नहीं है ।

प्रत्येक उच्छितशील व्यक्ति-समुदाय, समाज या “सोसाइटी” की तीन अवस्थाएँ होती हैं । उसकी प्रारम्भिक दशा में उस समाज के मनुष्यों के नैतिक या सदाचार-सम्बन्धी स्वभाव बनते हैं—उनकी सदाचारिता एक रूप धारण करती है । इसके बाद उनको कार्य में परिणत करने का समय आता है । इस

अवस्था में किसी प्रकार का गड़बड़ नहीं होता है, कारण कि समाज के प्रायः सब व्यक्तियों के स्वभाव तत्कालीन आचरण-नीति तथा धर्मनीति के अनुकूल होते हैं, और संगठन में तथा अभिलाषों में परस्पर विरोध नहीं होता है। इस समय सब काम उत्तमता के साथ चलता है।

इसके उपरान्त तीसरी अवस्था पर्यालोचना की है। इसमें नयी शक्तियों का और नये भावों का विकास आरम्भ होता है, पुराना संगठन मन से उत्तर जाता और 'आँखें' बन्द किये हुए पुरानी लकीर को पीटते रहना अनुचित जान पड़ता है। विद्या और बुद्धि की उज्ज्ञलि के साथ ही मनुष्योंमें नयी आवश्यकताओं और नयी इच्छाओं का प्रादुर्भाव होता है। कुछ समय पाकर यह प्रतीत होने लगता है कि पुराने नियम वर्तमान संगठन के लिये पर्याप्त नहीं हैं और उनमें उचित परिवर्तनों की आवश्यकता है। सब ओर से असन्तोष और आन्दोलन के विहृ दिखायी पड़ते हैं। एक प्रकार से "सोसाइटी" भर में खलबली सी मच जाती है। इस समय विचारशील मनुष्यों के लिये दो रास्ते खुले रहते हैं—एक तो नये समय की नयी आवश्यकताओं की उपेक्षा करके पुरानी प्रथाओं को मानते रहना, तथा दूसरे पुराने बन्धनों को नोड कर नयी रीतियों का स्वीकार करना। समाज की इस तीसरी अवस्था में आचारनीति के मनन और उसके मुख्य नियमों की कार्य-परिवाह करने की आवश्यकता होती है। इस दशा में यह शास्त्र हमें उपरोक्त दोनों ही मार्गों का अवलम्बन

करने का उपदेश नहीं देता है । यह एक और तीसरा धीर्घ का रास्ता हमारे लिये खोलता है । यह न तो सब पुरानी बानी को मानने की और न उन्हें एकदम छोड़ देने ही की सम्मति देता है । आचरण-शास्त्र पुरानी रीति और पुरानी नीति को भली-भांति समझने का यज्ञ करता है । इसके अनुकूल यह जानना चाहिए कि वे कैसे उत्पत्ति हुईं, किस प्रकार से सर्वमात्य बनीं, और उनका वास्तविक प्रयोजन क्या है । यह किसी भी अड़चन को छोड़ देते या उससे हाथ हटाने के विषय है । यह लोक-कथा और पुरानी रीतियों के स्वन्वं को स्वीकार करता है । इस दृष्टि में आचरण-शास्त्र का यह काम है कि वह प्राचीन धर्म एवं नैतिक नियमों की उत्तमता को और नयी आवश्यकताओं एवं अपेक्षाओं की प्रबलता को पूरे तौर से समझ कर उनमें ऐसे ऐसे उचित परिवर्तन करे जिनसे “सोसाइटी” का काम फिर भली-भांति चलने लगे और सभी उपति में कोई भी वाधा न हो ।

अब हमें यह देखना है कि रीतियाँ और प्रथाएँ क्या हैं । ये वास्तव में हमारे आचरण की समष्टि मात्र हैं । समाज की किसी विशेष अवस्था में जो आचरण उसका आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये लाभदायक समझे जाकर काम में लाये गये हैं वे ही धीरे धीरे उस समय के और उसके बाद भी कुछ समय तक उस समाज के आचरण-शास्त्र या सद्व्याचार-नीति के नियम कहे जाते हैं । साधारणतया “आनुषिक-कार्य” आचरण कहा जा सकता है, परन्तु यद्यपि श्वास लेना भी

उसका काम है, तथापि यह आचरण नहीं है। यदि हम यह करें कि आचरण वह काम है जो मनुष्य जान-बूझ कर करे, तो इससे भी हमारा प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि जब हम अपनी पलक बन्द करते हैं, तब यद्यपि हमें इस ज्ञान का ज्ञान रहता है, तथापि यह आचरण नहीं है।

उपरोक्त परिभाषाओं में अभी उस अंश की कमी है जो मनुष्य को मनुष्यत्व का पद देती है। यह अंश उसका काम करने का सङ्कल्प या इच्छा है, इसलिये पैच्छिक कार्य या इच्छित मानुषिक कार्य आचरण है। जब किसी मनुष्य का कार्य-कलाप समय पाकर स्वभाव-सिद्ध हो जाता है, तब वही उसका शील-गुण या प्रकृति कही जाती है। एक नामी पाश्चात्य विद्वानवेत्ता जान स्टुअर्ट मिल का कथन है कि शील-गुण “पूर्णतया ढली हुई सङ्कल्प-शक्तिमात्र” है। सङ्कल्प-शक्ति में “इच्छा” का अधिक अंश होता है। इससे मनुष्य की आत्मा का धनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि मनुष्य पाप करे, तो उसकी आत्मा कल्पित कही जाती है। इसके साथ ही यह निश्चिन है कि मनुष्य की इच्छा की लहरें न तो मनमाने तौर से बहती और न मनुष्य ही को इधर उधर बहाती रहती हैं। वे एक क्रम से धीरे धीरे स्वभाव-सिद्ध होकर उसकी आत्मा का आदर्श बन जाती हैं। इसी कारण से उसके कामों को देख कर लोग उसे भला या बुरा कहते हैं। साधारणतया पुण्यात्मा मनुष्यों की इच्छा पाप की ओर बहुत कम झुकेर्गा। इसी प्रकार

से अधिर्मी मनुष्यों के लिये सत्कर्मों का करना प्रायः कठिन होता है। किसी की इच्छा उसके अभिलिप्त पदार्थों पर निर्भर है और इस अभिलिप्त का पूरा सम्बन्ध उसकी आत्मा तथा स्वभावों से है, इसलिये मनुष्य का, इच्छा करके, किसी अभिलिप्त पदार्थ की प्राप्ति का उपाय सोचना आचरण का पहला और भीतरी अंश है, और उसका कार्य-परिणाम करना उसका दूसरा और बाहरी अंश है।

प्रत्येक आचरण किसी न किसी उद्देश्य को लक्ष्य मान कर किया जाता है और उसका कुछ परिणाम होता है। हम भलीभांति जानते हैं कि आचरण ही सदाचार-नीतिक हृषि से भला या दुरा कहा जाना है। अब यह प्रश्न उठना है कि हम उसका निर्णय हेतु पर अथवा परिणाम पर हृषि डाल कर करें। इस कारण से यह जानना आवश्यक है कि लक्ष्य और 'परिणाम' इन दोनों शब्दों में से अधिक आवश्यक या सार्वयुक्त भाग कौन सा है। इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों में बहुत मतभेद है। इनमें से कोई हेतु को और कोई परिणाम को गौरव देता है। हेतु सद्गुरुप-शक्ति के अनेक शब्दों से मिल कर बनता है। यह अनुभव करनेवाली आत्मा के किसी अग्राम वस्तु या उद्देश्य की ओर उस मुकाबला या लिख्सा का नाम है जो इच्छा करने के लिये आवश्यक है। दूसरे शब्दों में हेतु "अभिलिप्त पदार्थ या उद्देश्य की उस बासना को कहते हैं जो एक मनुष्यनिधीय की आत्मा के स्वभाव के अनुरूप हो।

और उसकी सङ्कल्प-शक्ति को सज्जालिन करे।” इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि हेतु और परिणाम एक दूसरे से विरुद्ध नहीं हैं—हेतु ही का अन्तिम रूप परिणाम है जो पहले से समझ लिया गया था और जो सङ्कल्प करके सिद्ध किया गया है।

किसी आचरण का निर्णय करने के लिये हमें यह सोचना चाहिए कि उसके सब परिणाम पूरे तौर से भले हैं या बुरे हैं और ये ही परिणाम पहले से उद्दिष्ट थे या नहीं। बिना इस बात की पूरी जाँच किये हुए हम किसी आचरण पर अपनी सम्मति को प्रकट करने के अधिकारी नहीं हैं। यह आचरण ही सदाचार-नीतिक निर्णय की वस्तु है। आचरण और सङ्कल्प-शक्ति में बहुत धना सम्बन्ध है, इस कारण से जो निर्णय एक के लिये होगा वही दूसरे के लिये भी पर्याप्त होगा। इसी प्रकार से अनुष्टुप्य की प्रकृति और हेतु भी आचरण के साथ ही सदाचार-नीतिक हृषि से भले या बुरे कहे जा सकते हैं। इस प्रयोजन से किसी के आचरण पर अपनी सम्मति को प्रकट करने के लिये दो क्रमों का अवलम्बन किया जा सकता है। पहले ही बाहरी व्यवस्थाओं या शास्त्रीय नियमों कं अनुकूल उसके सत् या असत् होने का, और दूसरे इस हृषि से उसकी भलाई या बुराई का कि कहाँ तक वह एक वौलित उचित और उपयोगी उद्देश्य को पूर्ण करता है।

इनमें से पहला क्रम समाज की प्रारम्भिक अवस्था में काम देता है। उस समय समाज के आचार और विचार स्थिरता

को नहीं प्राप्त होते हैं, इससे कुछ ऐसे नियम बना लिये जाते हैं जिनके अनुकूल प्रत्येक मनुष्य को चलना होता है। यदि किसी का आचरण इनके अनुसार न हुआ, तो वह निन्दा कहा जाता है। इस समय में धार्मिक, सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक नियम सभी एक में विवेच रूप से सम्बन्धित होते हैं। इस कारण से उनके पारस्परिक गैरव का निर्णय करने में बहुधा बड़ा गड़बड़ होता है। दूसरे उन नियमों में कभी कभी एक का दूसरे से विरोध भी हो जाता है। इस दशा में मनुष्य के लिये इस बात का निश्चय करना बड़ा कठिन होता है कि उनमें से वह किस नियम की आज्ञा माने और किसकी आज्ञा न माने। तीसरे इन नियमों को मनुष्य साधारणतया परलोक के बिगड़ने के दर से ही मानते हैं।

ये अद्वितीय सोसाइटी या समाज की पहली अवस्था में नहीं बढ़ती हैं। ये उसकी दूसरी अवस्था में बढ़ती जाती हैं, परन्तु बड़े-बड़े लोग थोड़े-बहुत परिवर्तन करके इन्हीं नियमों से काम निकालते रहते हैं। तीसरी अवस्था के आते ही इनकी निस्सारता बहुत कुछ प्रकट हो जाती है। इसी समय यह आवश्यकता होती है कि इस प्रकार की अवस्थाओं और शाखों के आदर्शों को छोड़ कर “परिणामशत उद्देश्य” का आदर्श प्राप्त जाय, क्योंकि वैसे डीक तौर से काम चलाना असम्भव है। इस समय में केवल आहरी अवस्थाओं और प्रथालित प्रथाओं के अनुकूल किसी की प्रशंसा या निन्दा करना अनुचित है।

जब किसी समाज की उच्चत अवस्था में अनेक व्यक्तियों की प्रतिभा और बुद्धि बड़े ऊँचे दर्जे को पहुँच जाती है और उस समय के नियमों का पुराना संगठन उसकी आचरणकताओं के लिये नहीं पर्याप्त रहता है, तब इस बात की ज़रूरत होती है कि सदाचार-नीतिक आचरण के उत्तम या निष्ठा होने का निर्णय उसके अन्तिम परिणाम से और समस्त समाज पर उस परिणाम के भले या बुरे प्रभाव से किया जाय। समाज की उपमा एक वृक्ष से दी जा सकती है। उसका प्रत्येक व्यक्ति अपने समुदायरूपी वृक्ष के पत्तों के समान है। यदि पत्ते हरे-भरे हैं, तो वृक्ष भी हरा-भरा दिखायी देता है। उसकी दशा को सुधारते रहने के लिये सभी पत्ते अपना अपना काम करते हैं और वह वृक्ष अपने पत्तों के लिये अपना कर्तव्य करता है। वह भी उन्हें हरा-भरा बने रहने में पूरी सहायता देता है। इसी प्रकार से मनुष्यों की शक्ति और उनके उत्तम आचरण पर समाज की पुष्टा निर्भर है और समाज के उत्तम दशा में होने से मनुष्यों की शक्ति और स्वत्वों की पूरी बुद्धि होती है। ये सदा एक दूसरे पर अपना प्रभाव छालते रहते हैं। एक को हित से दूसरे का हित होता है और उसके अद्वित से दूसरे का अहित। समाज अनेक व्यक्तियों की समष्टि है। इन दोनों में कुछ भी विरोध नहीं हो सकता है। इन कारणों से इस लीखनी दशा में पुराने, और इससे घरेमान समय में अपर्याप्त, नियमों से बहुत कम काम बलता है, कारण कि कोई मनुष्य

जो कुछ नैतिक आचरण करेगा उसे वह अपनी पुरानी प्रशास्त्रों के अनुकूल सदा उन बाहरी लियमों के गोरख ही को मान कर करेगा । यदि किसी ने सच्ची बात कही, तो उसके चिन्ह में यह विचार तुरत दौड़ जायगा कि मैंने यह काम शाल की आशा में किया है और इससे मुझको स्वर्ग या पुण्य मिलेगा । यह वह कदाचित् ही सोचेगा कि सच बोलने से मेरी आत्मा की पवित्रता और समाज की सच्चिरित्रता पर बहुत अच्छा परिणाम होगा और मेरा यह कार्य मेरे समाज को उन्नत बनाने में समर्थ होगा ।

समाज के व्यक्तियों की आत्माओं पर शालीय लियमों का प्रभाव व्यर्थ नहीं होता है, कारण कि वे पहले पहल अपने समाज के उपकार के ही लिये बनाये गये थे, परन्तु उन्हिंन रीति यह है कि उन्हति करने पर उन्हीं शालीय लियमों से परिपुष्ट और परिष्कृत होकर अपनी बुद्धि अपने और अपनी जाति के कल्याण के लिये नये नये लियम बनाना प्रारम्भ करे । हम इसी को सदसद्विवेचनी बुद्धि कहते हैं । यही हमारी आत्मा का वैतन्य और विचार-शील अंश है । यही अपने विचारों और कामों की उत्तमता या निष्ठाएता का निर्णय करती है । इसी की आज्ञा अपनी सबकी अन्तरालमा की आज्ञा है और इसी का शब्द उसका शब्द है । यही बुद्धि उसका धार्तविक स्वरूप है । यह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर और इसकी नामा प्रकार की अवधारणों, इच्छाओं तथा आवश्यकताओं पर पूरी हार्दिक आल-

सदाचार-नीति और नवीन दार्शनिक हृषि । २३८

कर अपने लिये उन सप्रमाण और निश्चित नियमों को तैयार कर लेती है जिन्हें शास्त्र या सदाचार-नीति कहते हैं।

इस प्रकार से सब पर समुचित अन्तरात्मा ही का प्रभुत्व होता है। उसीको सब दशाओं, सब समयों, सब कामों और सब स्थानों में सर्वोन्नति रूप से सम्पादित करना हमारा आदर्श है। हमें चाहिए कि हम जो कोई काम करें उसे सदा अपने सामर्थ्य को देखते हुए अत्यन्त उत्तमता के साथ करें, परन्तु इस बात पर अवश्य हृषि रखें कि वह कार्य और हमारे सभी आत्मरक्षण परिणाम में अस्तिगत और सामाजिक हित के संवर्धक हैं। यदि हम पिता हैं, तो पुत्रों के साथ उत्तम बनावट करना, उनका पालन-पोषण करना और उनके उचित शिक्षण की देखभाल करना हमारा सदाचारणा है। यदि इस कर्तव्य को उत्तमता के साथ पालन करने में हम कुछ भी झुटि करते हैं, तो हम पाण करते हैं—ग्रेवोजन यह है कि हम अपनी आत्मा के सर्वोन्नति रूप को प्राप्त करने के लिये पूरा प्रयत्न नहीं कर रहे हैं और यह निस्सन्देह अधर्म है। हमारे लिये सदाचार-नीति का यही सर्वधेष्ट नियम है कि हम सदा अपनी उत्कृष्ट आत्मा की पूरी शक्ति के अनुसार काम करें और उसे सदा उत्तम बनाने की वेष्टा करते रहें।

अन्तरात्मा की वास्तविक उत्तमति के साथ ही हमें यह भी देखना है कि किस अन्तिम उद्देश्य से भयुत्थ का आचरण उत्तम कहा जा सकता है और क्या उसका लब्ध द्वाना चाहिए।

प्रत्येक उद्देश्य को (१) स्वयं प्रत्येक मनुष्य के लिये कल्याणकारक (२) स्वभाव ही से कल्याणमय और (३) वास्तव में (अन्त में भी) कल्याणकारक होना चाहिए । इसको न तो अन्तरात्मा से विरोध और न उस पर कूरना करनी चाहिए । उत्तम उद्देश्य वही है जो व्यक्तिगत कल्याण के साथ ही सामाजिक कल्याण को भी पूरे तौर से करे ।

समाज एक सजीव संगठन है और मनुष्य इसके अङ्ग हैं । इन दोनों के कल्याणों में भेद मानना अनुचित है । एक अकेला मनुष्य न कुछ कर सकता और न कोई वस्तु समझा जा सकता है । उसका समाज के साथ का रास्ता ही उसे व्यक्ति-विशेष की पद्धति देकर एक जन-समुदाय का अङ्ग बनाता है । अपने जीव की रक्षा देखने में अत्यन्त संकुचित इच्छा जान पड़ती है, परन्तु जब किसी मनुष्य के प्राणों पर कोई विपत्ति आती है, तब साधारणतया उसका चित्त सबसे पहले अपने पुत्र, पत्नी और कुटुम्ब की ओर दौड़ जाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य स्वभाव ही से सामाजिक जीव है और अपने स्वेहियों तथा समाज के साथ उसका प्रेम उसे अपनी आत्मा से भी अधिक करने को प्रवृत्त करता है । कोई मनुष्य प्रायः तभी आत्म-हत्या करता है, जब सबसे सम्बन्ध के दूष जाने पर वह अपने जीवन को शूल्य समझता है ।

इस हृषि से किसी मनुष्य की आत्मा उसकी निज की कभी नहीं कही जा सकती है । वह वास्तव में उसके कुटुम्ब, जाति

और देश की है। इसी कारण से यदि कोई मनुष्य ऐसा काम करे जिससे समाज का अहित हो, तो वह पापी है। इन बातों से खण्ड है कि सार्वजनिक कल्याण ही अपना कल्याण है। यदि कोई मनुष्य अपने को समाज से अलग करके रखना चाहे, अथवा उसके सम्बन्धों का प्रभाव अपने ऊपर न आने दे, तो वह सामुदायिक हित कभी न कर सकेगा। अपने कुदुम्ब, व्यापार, नगर और देश के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने ही में उसकी आत्मा को सच्चा मोक्ष मिल सकता है। इन कर्तव्यों में अपने प्राण को खो देना मानों अपने प्राण को पाना ही कारण कि वह सामाजिक संगठन जिसका वह एक अंश है वास्तव में उसीके जीवन का एक विस्तृत संगठन मान देता है। मनुष्य की इच्छाएँ उसकी व्यक्तिगत आत्मीयता का रूप हैं और उन्होंका कर्म-विषयक या विषयाधित रूप यह समाज है। इस प्रकार से आत्म-रक्षा की व्यक्तिगत इच्छा समाज में पुलिस और व्यायालय का प्रादुर्भाव करती है, तथा सन्तान उत्पन्न करने, रुपया कमाने और सत्य का अनुसन्धान करने की इच्छा सामाजिक विषयाधित रूप में कमशः कुदुम्ब, व्यापार और विद्यालयों से समानता रखती है।

जिस प्रकार से व्यक्तिगत कल्याण सार्वजनिक कल्याण है, वैसे ही व्यक्तिगत अनिष्ट सार्वजनिक अनिष्ट है। यदि कोई व्यापारी अपना परिवर्म से कमाया हुआ धन मद्य-पीने में उड़ा दे योर इस प्रकार से अपने स्वास्थ्य और कुदुम्ब की उपेक्षा करे, तो

वह निष्कपट होने पर भी निवा के योग्य है, कारण कि वह निष्कृष्ट आदर्श दिखाकर अपने दुरावार से अपनी, अपने कुदुर्ज, और दूसरों की हानि करके अपने समाज का घोर अपकार कर रहा है। यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि उचित समय पर उपकार या सत्कर्म का न करना उतना ही बड़ा गोप है जितना कि साक्षात् अपकार या दुष्कर्म का करना है। प्रत्येक मनुष्य अपने समाज के कुछ न कुछ निर्दिष्ट कर्तव्य पालन करने के लिये उत्पन्न होता है। यदि वह उनको उत्तमता के साथ नहीं करता या उनसे अपना हाथ खींचता है, तो वह अवश्य अधर्म कर रहा है। आत्मीय एवं सार्वजनिक या सामाजिक कल्याण को उद्देश मान कर अपने सामर्थ्य भर अत्यन्त उत्तमता के साथ अपनी आत्मा की सर्वोत्कृष्टता का सम्पादन करना, अथवा दूसरे शब्दों में अपने समाज में प्राकृतिक रूप से नियत अपने कर्तव्यों का, जहाँ तक हो सके, अत्यन्त उत्तम रीति से परिपालन करना, आधार-नीति का प्रधान नियम और अत्यन्त आवश्यक सदाचार है।

हमें अब यह दिखाना है कि प्रत्येक मनुष्य के लिये वे कौन कौन कर्तव्यक्षेत्र हैं जिनमें उसे सर्वोत्कृष्ट रूप से काम करना चाहिए और वे कौन कौन शुण हैं जिन्हें उसे कभी न भूलना चाहिए। हमने दीक एक मनुष्य के समान समाज को भी समीक्ष बतलाया है। यह स्मरण रखिए कि मनुष्यों के आवश्यक शुण और सामाजिक कर्तव्यक्षेत्रों

में, तथा इन दोनों की नाना प्रकार की शास्त्राओं और प्रशास्त्राओं में एक प्रकार की अद्भुत समानता वर्तमान है, जिससे यह प्रतीत होता है कि ये एक दूसरे की पूर्ति के लिये बनाये गये हैं, इस कारण से इस विषय के मुख्य विभाग चाल्तव में एक दूसरे का संकलन करेंगे,—यदि एक कर्तव्यक्षेत्र में एक गुण आवश्यक बतलाया गया है, तो वह दूसरे कर्तव्यक्षेत्रों और दूसरे गुणों में भी उसी प्रकार से काम में लाया जा सकता है। ये सभी गुण और कर्तव्यक्षेत्र आपस में एक दूसरे से भली-भाँति लिले हुए हैं। मनुष्यों के गुण नीचे लिखी हुई रीति से बढ़ि जा सकते हैं। यह विभाग दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है। यहाँ पर हमने उसका दिग्दर्शन मात्र किया है।

प्रस्तावित विभाग ।

(अ) सदाचार-सम्बन्धी गुण ।

- | | |
|--|------------------------------|
| १. अतिशायाभाव—परिमितता ।
२. आत्म-प्रतिष्ठा ।
३. पराक्रम ।
४. व्यवसाध ।
५. मितव्य । | १. आत्मविषयक ।
(आधिकारिक) |
|--|------------------------------|

२. अन्यविषयक । मृदुली वा परोपकारिता)	(क) अनिवार्य सम्बन्धों में	१. पितृ-भक्ति आदि । (कुरुत्वा) २. उपकारशालता । (अद्वास-पद्मास)
	(ख) इच्छाजन्य सम्बन्धों में	३. स्वदेशभक्ति । (स्वदेश) ४. लोकहितेच्छा । (समस्त संसार)
३. जीवनव्यवहारविषयक	(क) दूरदर्शिता ।	५. निष्कपटता । (व्यापार)
	(ख) त्रुटिमत्ता ।	६. सुर्खालता । (मिथादि समागम)
(इ) मानसिक गुण ।	७. हृषि भक्ति ।	८. धर्म वा ज्ञानि ।

१. सत्यानुसरण । (निष्कपट-भाव)

२. सत्यालाप । (सत्यपरिपूर्णता)

३. जीवनव्यवहारविषयक { (क) दूरदर्शिता ।

{ (ख) त्रुटिमत्ता ।

उपरोक्त विभाग से हम यह भलीभांति समझ सकते हैं कि हमें किस व्यान या सम्बन्ध में किन गुणों पर विशेष धृष्टि रखनी चाहिए । हम चाहे कोई काम करें, परन्तु हमें यह सर्वदा व्यान में रखना चाहिए कि हम उसे अवश्यमैत्र उत्तमता के साथ करें, कारण कि तभी हम सदाचारी हो सकते हैं । यदि हम उसमें कुछ भी झुटि करते हैं, तो हम अवश्य पापी हैं ।

१२—दक्षिणी अफ्रीका और वहाँ की शासन-प्रथा ।

मारे देश भारतवर्ष से दीक पश्चिम में अरब से मिला हुआ अफ्रीका नामक महाद्वीप है। इसका दक्षिणी भाग इंगलैण्ड के महाराज्य के अधिकार में है और उसका अधिकांश “दक्षिणी अफ्रीका की संइति या संयोग” के नाम से प्रख्यात है। इसमें केप आफ्रू गुड होप, ज़ूलूलैंड सहित नेटाल, आरेज़ फ्री स्टेट और ट्रांसवाल नामक चार नूंदि हैं। ये अपनी बाहरी सीमाओं पर आयः पहाड़ियों से बिरे हुए हैं जो इनके भीतरी भंडों को पूरे तौर से सुरक्षित रखती हैं। यहाँ की अधिकतर पृथ्वी समधर है। जलवायु कुछ ऊचा होने पर भी अच्छा और स्वास्थ्यकर है। यहाँ की खानों

* नवेम्बर १९१३। मर्यादा भाग ५, संख्या २, पृष्ठ ६८—७०।
स्वतन्त्र।

से कोयला, तांबा, सोना और रत्न अधिकता के साथ निकलते हैं।

पहले यहाँ पर जंगली आदमी रहते थे। सन् १४८८ में पुर्तगाल देशवाले ने पहले पहल गुड होप के अन्तर्गत को हूँड़ा। उसी समय से यहाँ पर योरोपवासियों का आगमन आरम्भ हुआ। इसके बाद यहाँ पर अंगरेज लोगों ने प्रथक्षा और फिर १६६७ में डचजातीय-पूर्वी-व्यापार-समिति से निकाले गये कुछ सैनिकों द्वारा मल्लातों ने बेटी के लिये थोड़ी सी जमीन पाकर बसना शुरू किया। थोरे धीरे इनकी आबादी बढ़ती गयी। कुछ फ्रांस-देशीय लोग भी इनके साथ आ गए। १७५८ में इस उपनिवेश की जन-संख्या आठ हजार से बहुत ज्यादा नक्कर थी। इन लोगों का कारोबार ज़हर गया था, परन्तु डचजातीय-पूर्वी-हिन्दुस्तान-समिति इन पर कठोरता के साथ शासन करती थी। इस समिति के अफ़सर लोग इन्हें सभी प्रकार से दुःख देते थे। १७१५ में इन्होंने उन्हें निकाल बाहर किया और कई एक स्वाधीन राज्यों की नीव खाली। ये ही लोग ‘बोअर’ कहलाने लगे और अब इन्होंने स्वच्छता के साथ इधर उधर जंगली आदमियों को दबा कर अपनी बहियाँ बसायीं। इसी समय इंगलैण्ड से इसके कोई कालेनी नामक अंदा को जीत लिया और अनन्तर सन्धिघटारा तथा इसे मोल लेकर इस पर अपने स्वत्व को पुष्ट किया। उस समय यहाँ पर योरोपवासियों की संख्या ग्राम: ८७०००

दक्षिणी अफ्रीका और यहाँ की शासन-प्रथा । २३९

थी । ये बोअर लोग यहाँ के जंगली मनुष्यों पर सभी तरह के अत्याचार फरने थे ।

सन् १८२९ में कुछ अँगरेज लोग भी यहाँ बसने के लिये भीजे गये । उधर पादड़ी लोगों ने अपने धर्म का प्रचार करना आरम्भ कर दिया था, इन लोगों ने सबके साथ भलाई का बर्ताव किये जाने के लिये प्रयत्न किया । कुछ बोअर लोग अँगरेजों के शासन से पीड़ित होकर पूर्व की ओर बढ़े और यहाँ पर इन्होंने १८५० के लगभग नेटाल नामक प्रजा-सत्ताक राज्य स्थापित किया । १८५३ में इसे इंगलैंड का उपनिवेश मान बनना पड़ा । अँगरेजों ने केप कालोनी में अपनी जाति के लोगों और यहाँ के साधारण निवासियों के स्वत्व प्राप्ति समान कर दिये थे और धोअर लोग इसके पक्षदूष विकद्ध थे, इस कारण से इन्होंने ग्रलग हट कर अपना राज्य स्थापित किया । इस प्रकार से आरंज पूरी स्टेट की रुटि दूरी । पहले पहल इंगलैंड इन्हें अपने पूर्ण अधिकार में कर लिया करता था और बाद को इन्हें यथा-क्रम राजनीतिक स्वत्व देता रहता था । एक दूसरे की उष्ट्रति का दैख कर ये छोटे छोटे राज्य और अँगरेज तथा बोअर लोग जला करते थे और इनमें ऐक्य होने की आशा दुराया मात्र थी । इंगलैंड का आधिपत्य भी इन लोगों को पूरे तौर से खटकता था । इन्होंने सब कान्यों से १८५५ से १९०२ तक अँगरेजों और बोअरों में धोर युद्ध होता रहा । अस्त मैं बोअर लोगों को सन्धि करनी पड़ी थी इंगलैंड ही सब प्रकार से यहाँ का अधिकारी

रहा । प्रजा-सत्ताक राज्यों के दूट जाने से वर्तमान सूबों की प्रतिस्पर्धा कुछ कम हो । यदी और भीरे धारे आपस में मेल हो जाने के लक्षण दिखाया देने लगे ।

केप आफ़्रिका गुड हैप इस संहति का दक्षिणी सूबा है । केप टाउन इसकी राजधानी है । इसका क्षेत्रफल २७६, ९५ बर्ग मील और जन-संख्या २,५६९,०२४ है । यहाँ का दूसरा पूर्वी सूबा नेटाल है, इसका क्षेत्रफल २५,२९० बर्ग मील और आबादी १,१२१,९५८ है । पीटरमेरिज़ बर्ग में इसका शासक रहता है । नेटाल से उत्तर की ओर डांसवाल और हन वीनों के बीच में आरेज़ फ्री स्टेट नामक सूबा है । टांसवाल का क्षेत्रफल ११०,४२६ बर्गमील और जन-संख्या १,६८६, २१२ है । प्रादेशिक शासक यहाँ के मुख्य नगर प्रिटेनिया में रहता है । आरेज़ फ्री स्टेट का क्षेत्रफल ५०, ३९२ बर्गमील और आबादी ५२८, १७४ है । इसका मुख्य नगर ब्लीमफ्रॉन्टन है । यहाँ से इसका शासन होता है ।

ये उपरोक्त चारों सूबे ११ मई १९१० को हँगलैंड की पार्ली-मेंट में निविचत व्यवस्था के द्वारा एक में सम्मिलित कर दिये गये और इन्हें धौपनिवेशिक स्वराज्य दिया गया । उसी समय से ये “दक्षिणी अफ्रीका की संहति” कहाते हैं । अब इनका शासन मुख्यतया यहाँ के बासिनों ही के द्वारा किया जाता है । हँगलैंड के सप्राट के हाथ में यहाँ के लिये गवर्नर-जनरल या बड़े लाट के नियुक्त करने की शक्ति है । इसकी सहायता के

दक्षिणी अफ्रीका और यहाँ की शासन-प्रथा । २४६

लिये एक कार्य-कारिणी समिति की आयोजना की गयी है । इस समिति के सदस्यों को गवर्नर-जनरल अपनी इच्छा के अनुकूल नियन्त करता है । समस्त कार्य-कारिणी शक्ति बड़े लाट और उसकी समिति को प्राप्त है । रियासत के मुख्य विभाग भी प्रबन्ध करने के लिये स्थापित किये गये हैं । उनकी देख-भाल के सियें गवर्नर-जनरल प्रायः १० मुख्य कर्मचारी नियत करता हैं; ये भी कार्य-कारिणी समिति के सदस्य होते हैं ।

कानून बनाने की शक्ति यहाँ की पार्लीमेंट के ताथ में है । इंग्लैण्ड के सघाट्, सिनेट या सचिव-सभा और प्रतिनिधि-सभा ने तीनों उसके मुख्य अङ्क हैं । गवर्नर-जनरल इस पार्लीमेंट को प्रक्रित कर सकता है, इसकी बैठक और तारीखों को हटा सकता है और इसको तोड़ सकता है । वह चाहे तो सचिव-सभा और प्रतिनिधि-सभा को एक साथ ही अधिवा अलग अलग कर सकता है, परन्तु संहित की स्थापित होने की तारीख से दस वर्ष के भीतर उसे सचिव-सभा को न तोड़ना चाहिए । साल में एक बार पार्लीमेंट की बैठक ज़रूर होनी चाहिए ।

सचिव-सभा या सिनेट में ४० सदस्य हैं । इनमें से ८ को गवर्नर-जनरल नियत करता है । हीप ३२ हार एक सूचे से ग्राउ आड सदस्यों के द्विसाथ से निर्वाचित किये जाते हैं । सन् १९२० के बाद इसके संगठन में आधारकता होने पर परिवर्तन भी किया जा सकेगा । जो लोग योरोपवासियों की सन्तान और ऐरियाँ साम्राज्य की प्रजा हैं, और जिनकी अवस्था कम से

फम ३० वर्ष की हैं वे संघर्षित के सूतों के निर्वाचन में नामांग देने के अधिकारी हैं, तथा इनमें से जो कम से कम १ वर्ष तक निर्वाचक रह चुके हैं वे याहाँ की सिनेट के भवभ्य बनाये जा सकते हैं। निर्वाचित सिनेटर को कम से कम ७५०० फीटीमत की जायदाद का मालिक होना चाहिए, नहीं तो वह इस सभा में नहीं बैठ सकता है।

प्रतिनिधि सभा में कुल १२१ सदस्य हैं। इनमें केवल आपूँ गुड होप से ५८, नेटाल से १७, डान्सब्राउन से ३६, थोर ग्रार्ड फ्री स्टेट से १७ सभासद निर्वाचित होकर आते हैं। इन चारों सूतों में थोराप्पासियों की आबादी की जहती या शटती के हिसाब से निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या में हेंडफेर करने के लिये नियमावले निश्चित करली गयी है। निर्वाचन करने के लिये हर एक सूते में निभाग किये गये हैं, इन्हें निर्वाचन जिला कहते हैं। प्रत्येक ज़िले से एक प्रतिनिधि उन सभा में जाता है। जो नियम संविध-सभा के सदस्यों के निर्वाचन के लिये ऊपर लिखे गये हैं प्रायः वे ही सब प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों के लिये भी आवश्यक हैं। पहली प्रतिनिधि सभा ५ वर्ष तक खिर रहेगी। एक ही पुरुष उपर्युक्त दोनों सभाओं का सदस्य नहीं हो सकता है। सरकारी नौकर भी इन सभाओं में निर्वाचित होने का स्वत्व नहीं रखता है।

संघे-पैसे के विषय में जये कानून लाने के लिये प्रस्ताव करने का अधिकार केवल प्रतिनिधि-सभा का है, परन्तु

साधारणतया गवर्नर-जनरल की अनुमति को पाकर ही यह नये टैक्सें और खर्च के क्रान्तीनों को पास कर सकती है। प्रतिनिधि-सभा की सचिवालदाता के साथ क्रान्तीन बनाने की शक्ति को सचिव-सभा कुछ परिमित करती है। दोनों सभाओं में एकांध को ठीक करने के लिये, क्रान्तीनों पर इँगलैंड के सम्माट की मंजूरी के लिये और गवर्नर-जनरल के द्वारा स्वीकृत क्रान्तीनों के भी रद करने के लिये नियमों की आवृत्ति जना की गयी है। गवर्नर-जनरल प्रिंटेरिया में रहना है और सभाओं के अधिवेशन केपटाउन में होते हैं।

हर एक सूचे के शासन के लिये गवर्नर-जनरल एक एवं शासक को पांच घर्ष के लिये नियत करता है। यहाँ एक प्रादेशिक सभा होती है। इनके साथ बार सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति की रचना की गयी है। प्रादेशिक शासक था छोटे लाट इन कार्यकारिणी सभाओं के अध्यक्ष हैं। ये सब मिल कर अपने सूचों का शासन देखते हैं। प्रादेशिक सभाओं में निर्वाचित होने के लिये किसी को शोरापवासियों की सन्तान होना ज़रूरी नहीं है। केप आफ़्रिका गुड होप की प्रादेशिक सभा में ५१, नेटाल में २५, ट्रांसवाल में ३६ और आरेंज़ फ़्री स्टेट में २५ निर्वाचित प्रतिनिधि बैठते हैं। प्रादेशिक आय, व्यय, शिक्षा, खेती, दान, नागरिक प्रबन्ध, स्थानीय काम, सड़क, पुल और बाज़ार तथा इनसे सम्बन्ध रखनेवाला वण्ड-विधान इन्हीं सभाओं के नियंत्रण में और इनकी अनुमति के अनुकूल होता

है। न्याय-विभाग के संचालन के लिये उभेकी प्रभावशक्ति और भी छोटे लेटे न्यायालय प्रत्येक प्रदेश में है। प्रत्येरु और छत्र दोनों ही भागाएँ दफ्तरों में काम में लादी जाती हैं।

प्रधानका और पहियावासी लोग भी इस संहालि में रह हैं। उनसे सम्बन्ध रखनेवाली हर एक बास का प्रधानका लाट और उनकी समिति के हारा होता है। इन लोगों के न्यायनीय व्यवहार करने का जो स्वभाव दोनों जानिवालों प्रारम्भ ही से सीख रखा है वही आश्रय जनक निष्पत्ति—अंग अस्थाचार—इन दिनों में दक्षिणी प्रधानका में नरम भीमा इ पहुँच गया है।

